



# International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2017; 3(5): 19-37

© 2017 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 06-07-2017

Accepted: 07-08-2017

**डॉ. सुमित कुमार**

आयुर्वेदिक चिकित्सा पदाधिकारी,  
अति० प्रा० स्वा० केन्द्र मानस,  
दानापुर, पटना

**डॉ. सुरेन्द्र पाल सिंह जयजानिया**

एसोसिएट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर  
शरीर क्रिया विज्ञान विभाग, राष्ट्रीय  
आयुर्वेद संस्थान, जयपुर

## तर्पक कफ के जैव भौतिक क्रियाओं का अध्ययन

**डॉ. सुमित कुमार, डॉ. सुरेन्द्र पाल सिंह जयजानियाँ**

**सारांश**

आयुर्वेद एक प्राचीन चिकित्सा विज्ञान है जिसमें चिकित्सा एवं व्याधि का निर्देश दोषों को आधार मानकर किया जाता है तथा दोषों की विकृतावस्था को रोग माना गया है एवं दोषों की प्राकृतावस्था को आधार मानकर ही विकृति का मुल्यांकन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के आहार विहार की पर्यायों का मुल्यांकन भी दोषों की प्राकृत स्थिति को जानकर किया जाता है जिससे आयुर्वेद अपने प्रयोजन द्वय को सिद्ध करता है। मानव शरीर में नित्य प्रतिदिन ऐसी क्रियाएँ होती रहती हैं जिनको सहज नहीं समझा जा सकता है। इसमें होने वाली सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रियाओं के पीछे कोई न कोई कार्यकारी सिद्धान्त होते हैं। जो उस क्रिया को सम्पादित करते हैं।

इन सभी क्रियाओं के पीछे जैव भौतिक एवं जैव रसायनिक के सिद्धान्त और आयुर्वेद मतानुसार त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) कार्य करते हैं। इनमें तर्पक कफ एक है जिसके प्राकृत स्वरूप एवं क्रियात्मक परिज्ञान के संबंध में स्पष्ट ज्ञान की आवश्यकता है।

तर्पक कफ का विस्तृत, प्राच्य तथा प्रतीच्य दृष्टि से विस्तृत जानकारी हेतु शोध प्रबंध का यह विषय रखा गया है। तर्पक कफ संबंधी साहित्य का अनुशीलन करते हुए तर्पक कफ से संबंधित शरीर में उसका स्थानानुसार स्वरूप एवं कर्म का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त करना है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों का अनुशीलन करके तर्पक कफ का जैव भौतिक एवं स्वरूपात्मक अध्ययन किया गया है। तर्पक कफ के स्थान एवं कर्मों का अध्ययन किया गया है।

**कूट शब्द:** तर्पक कफ आयुर्वेद त्रिदोष जैव भौतिक क्रिया

**प्रस्तावना**

आयुर्वेद एक प्राचीन चिकित्सा विज्ञान है जिसमें चिकित्सा एवं व्याधि का निर्देश दोषों को आधार मानकर किया जाता है तथा दोषों की विकृतावस्था को रोग माना गया है एवं दोषों की प्राकृतावस्था को आधार मानकर ही विकृति का मुल्यांकन किया जा सकता है। मानव शरीर में नित्य प्रतिदिन ऐसी क्रियाएँ होती रहती हैं जिनको सहज नहीं समझा जा सकता है। इसमें होने वाली सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रियाओं के पीछे कोई न कोई कार्यकारी सिद्धान्त होते हैं। जो उस क्रिया को सम्पादित करते हैं।

इन सभी क्रियाओं के पीछे जैव भौतिक एवं जैव रसायनिक के सिद्धान्त और आयुर्वेद मतानुसार त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) कार्य करते हैं।

दोष निरुक्ति

दूष (वैकृते धातु)

दूष्यन्ति अनेन इति दोषः।

दोष स्वतंत्र रूप से अपने आप दूषित होते हैं। वे किसी दूसरे पर निर्भर नहीं रहते हैं। इसलिए अरुण दत्त ने दोष शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है जो दूसरों को दूषित करते हैं। परन्तु स्वयं दूसरों के द्वारा दूषित नहीं होते हैं और आपस में परस्पर एक दूसरे से दूषित होते हैं। ऐसे शरीरस्थ घटकों को दोष कहते हैं।

दोष की व्युत्पत्ति

दोषः दूषणस्वभावः अथवा दूष्यन्ति इति दोषाः।

जिनकी प्रकृति दूसरों को दूषित करने की होती है, उन्हें दोष कहते हैं। प्रकृति आरम्भक होने के नाते वात, पित्त तथा कफ इन तीनों दोषों का निर्देश किया गया है।

**Correspondence**

**डॉ. सुमित कुमार**

आयुर्वेदिक चिकित्सा पदाधिकारी,  
अति० प्रा० स्वा० केन्द्र मानस,  
दानापुर, पटना

अर्थात् जो प्रकृति के कारणभूत होते हैं और जो दुसरो को दूषित करना जिनका स्वभाव है ऐसे शरीरस्थ घटकों को दोष कहते हैं। किसी भी प्रकार के व्याधि को उत्पन्न करने में सर्वप्रथम दोष ही भाग लेते हैं, और अविकृत अवस्था में ये दोष ही धात्वादि के द्वारा शरीर को धारण करने में सहायक होते हैं।

शरीरस्थ विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ मुख्यतः दोषादि के ही अधीन होते हैं। शरीर को स्वस्थावस्था में रखना या शरीर में व्याधियों को उत्पन्न करना दोषों के ही अधीन होता है। क्योंकि व्याधियों की उत्पत्ति दोष और दूष्यों के सम्मूर्च्छना से ही होती है। स्वस्थ की परिभाषा आचार्य सुश्रुत ने निम्न प्रकार से दी है –

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।  
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते।। (सु. सू. 15/48)

वात, पित्त और कफ इन दोषों की समता, पंचमहाभूतों की पाँच, सप्तधातुओं की सात और जाठराग्नियों का समान रहना तथा रस-रक्तादि धातुओं और विष्णुत्र स्वेदादि मलों की पोषण, धारण तथा निर्गमनादि क्रियाओं का समान होना एवं आत्मा, इन्द्रिय और मन की प्रसन्नता ये सारी बातें जिसमें उपस्थित रहते हैं उसे स्वस्थ कहा जाता है।

### दोषों की निरुक्ति एवं व्युत्पत्ति

#### ◆ वात “वा गतिगन्धन्यो” (सु. सू. 21/5)

वात की निष्पत्ति “वा गति गन्धन्यो” धातु में वत्, प्रत्यय लगाकर हुई है। जिसका ज्ञान मुख्य रूप से त्वचा के द्वारा होता है। किसी भी प्रकार की गति या चेष्टा वायु से ही होती है। इससे स्पष्ट होता है कि शरीर के सभी घटक तथा अवयव एक संगति से कार्य करे तो उत्साह उत्पन्न होता है।

#### ◆ पित्त “तप संतापे” (सु. सू. 21/5)

पित्त की निष्पत्ति “तप संतापे” धातु से ‘कृदन्त विहित’ प्रत्यय द्वारा ‘तपति इति पित्तं’ जो शरीर में ताप-उष्मा उत्पन्न करे वह पित्त कहलाता है। शरीर में उष्मा की सभी प्रवृत्तियों मुख्यतः पाचन और शरीर का तापमान पित्त के कारण होती है। अतः पित्त शब्द को शरीर में अग्निभाव का द्योतक समझना चाहिए।

#### ◆ श्लेष्मा “श्लिष आलिंगने” (सु. सू. 21/5)

श्लेष्मा की निष्पत्ति दिवादिगण में पठित “श्लिष आलिंगने” धातु से “कृदन्तविहित” प्रत्यय द्वारा ‘श्लिष्यतेऽनेनेति श्लेष्मा’ अर्थात् जो मिलाता है वह श्लेष्मा कहलाता है। कफ शब्द की व्युत्पत्ति “केन जलेन फलति इति कफः” जिस जल से जो फलीभूत होता है अर्थात् जिसमें जल होता है उसे कफ कहते हैं।

इस प्रकार ये तीन शारीरिक दोष हैं मानसिक दोष रज और तम होते हैं। सत्व कभी दूषित नहीं होता है, अतः उसे मानसिक दोष नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार शारीरिक और मानसिक भेद से दोष दो प्रकार के होते हैं रज की समानता महदंशो में पित्त से और कुछ अंशों में वात से भी है। तथा तम की समानता कफ से है। जिस प्रकार शरीर को वात, पित्त और कफ प्राकृतावस्था में धारण करने वाले और विकृतावस्था में व्याधि उत्पन्न करने वाले होते हैं। उसी प्रकार शरीर में मन से संबंध रखने वाले रज और तम ये दो दोष होते हैं यद्यपि सत्व का संबंध मन से रहता है, किन्तु वह दोष न कहलाकर गुण शब्द से व्यवहृत होता है। ये तीनों सत्व, रज और तम मानस भावों को उत्पन्न करने वाला होता है अतः इन्हें मानसिक दोष या मानसिक गुण कहा जाता है। सत्व में कभी विकृति न होने के कारण वह हमेशा गुण ही रहता है और रज और तम जब विकृति होकर मन को दूषित करके विभिन्न मानसिक व्याधियों को उत्पन्न करते हैं तो इनकी दोषसंज्ञा हो जाती है।

शारीरिक दोष वात, पित्त और कफ का संबंध सत्व, रज और तम इन तीनों से अवश्य है। क्योंकि शरीर में जिस किसी भी मानसिक भाव की उत्पत्ति होती है। अथवा कोई मानसिक विकार उत्पन्न होता है तो उसका प्रभाव शारीरिक दोषों पर अवश्य पड़ता है। इसके अतिरिक्त सत्व, रज और तम के जो गुण और कर्म बताये गये हैं, वे गुण कर्म वात, पित्त, कफ तीनों दोषों से बहुत अधिक साम्य रखते हैं। अतः इनका पारस्परिक संबंध होना स्वभाविक है। साथ ही त्रिदोष पाँच भौतिक संगठन वाले होते हैं। तथा पंचमहाभूत त्रिगुणात्मक (सत्व, रज और तम गुणयुक्त) होते हैं।

इस प्रकार ये तीनों गुण शारीरिक तीनों दोषों को प्रभावित करते हैं इसके अतिरिक्त शरीर में जिन मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। वे मानसिक रोग रज और तम से प्रभावित होते हैं। किन्तु इनकी उत्पत्ति में वात, पित्त और कफ शारीरिक दोष भी सहायक होते हैं, क्योंकि मानसिक विकृति के साथ-साथ शरीर में अन्य अवयवों में भी विकृति उत्पन्न हो जाती है, जो शारीरिक दोषों का कारण होती है। इससे ये निष्कर्ष निकलता है कि शरीर की प्राकृतिक अवस्था एवं वैकृत अवस्था दोनों में ही मानसिक एवं शारीरिक दोषों का न्यूनाधिक रूप में कुछ न कुछ पारस्परिक संबंध अवश्य रहता है।

### कफ दोष विवेचन व्युत्पत्ति

आलिंगनार्थस्य श्लिष धातोः मनिन् प्रत्यये सर्वधातुभ्यो मनिन् (ड. उ. 594)

इति गुणे च कृते श्लेष्मा इति रूपम्। एतेन श्लेष्मणः संध्यादि योजकत्वं दर्शितम्।। (डल्हण)

कफः पुल्लिंगे। केन जलेन फलति इति। शरीरस्थधातुभेदे। (शब्दस्तोम)

(केन जलेन फलति इति) फल निष्पत्तौ, अन्येष्वपि इति ड। के शिरसि फलति वा, प्राग्वड्) शरीरस्थ धातु विशेषः, श्लेष्मा, संघात, सौम्य धातु घनः, बली, कफ धाम्नान्तु शेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम्। ततो अवलम्बकारुयाति श्लेष्मा प्राप्नोत्युरः स्थितः। (हलायुध कोशः)

### निरुक्ति

आयुर्वेद में कफ शब्द के लिए जगह-जगह पर श्लेष्मा, बलास, ओजस, मल पाप्मा, ष्टीवन निष्ठयूत आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। परन्तु इनमें भी कफ और श्लेष्मा शब्द का प्रयोग अधिकांशतः मिलता है। मल, पाप्मा, ष्टीवन, निष्ठयूत, आदि शब्द विकृतावस्था को बताने वाले हैं।

श्लिष आलिंगने अर्थात् शब्द से लिपटने वाला अर्थ रखने वाले धातु में “मतिन्” प्रत्यय लगाने पर श्लिषमन् शब्द बनता है। “श्लेष्मा” जिसका अर्थ शरीर से आलिंगन अर्थात् चिपटने वाला धातु कफ है। (अमरकोष)

आलिंगनार्थस्य श्लिष धातोः मनिन् प्रत्यये “सर्वधातुभ्योमनिन्” इति, गुणे च कृते श्लेष्मा इति रूपम्। एतेन श्लेष्माणः सन्ध्यादि योजकत्वं दर्शितम्।। (डल्हण-उ.594)

श्लेष्मा उस द्रव्य को कहते हैं जो हमारे शरीर में दो या दो से अधिक अवयवों को संयुक्त करता है।

“शब्दस्तोमहानिधि” में कफ शब्द की निरुक्ति केन जलेन फलति इति कफः। “शरीरस्थ धातुभेदेन” (शब्दस्तोम)

अर्थात् जल महाभूत की परिणति होकर द्रव के भीतर जो मूल द्रव्य बनता है, उसे कफ कहते हैं। यहाँ पर जल शब्द से अनेन प्रत्यय

लगने से जलेन, कफ धातु परक संज्ञक है तथा यह शरीर को उदक कर्म से अनुग्रहित करता है।

अन्य "यदाश्लिष्य वपुः सदा रसयति प्रीणयति सोऽयं कफः।

अर्थात् जो हमेशा रिस-रिस कर गिरने वाला और चिपकने वाला चिकना पदार्थ है उसे कफ कहते हैं।

वैदिक साहित्य में कफ के लिए बलास शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ बलकारक गुण वाला होने से है। "बलयस्यति क्षियति अस्. अण्. उप. सम. कफ धातो हेम च" गौरवं कफ संज्ञावोऽरुचि स्तम्भोऽग्नि मार्दवम् माधुर्योऽपि चास्य बलासावतते हृदि" (सु. नि. 16)

इस प्रकार श्लेष्मा और कफ दोनों की मूल धातु 'जलेन' जो स्नेहन एवं श्लेष्मक परक है। संस्कृत में श्लिष आलिंगने सब धातुओं का संश्लेषण स्थायित्व और उदक कर्म इन तीनों अर्थों में प्रयोग होता है। आलिंगन शब्द का अर्थ चिपकाकर उठा लेने वाला या सहभागी बनाकर अपृथक्त्व करने वाला अर्थ है। स्थूलता व दृढता गुरुता आदि ये सभी कर्म कफ प्रधान स्थायित्व होने पर भी न्यूनाधिक्य होते हैं। इन सभी कार्यों का मुख्य संपादक द्रव्य श्लेष्मा या कफ है।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार जल महाभूत से कफ की उत्पत्ति होती है, परन्तु वाग्भट के मत में कफारम्भक महाभूत पृथ्वी जल है।

### पर्याय

श्लेष्मा, कफ, बलास पाप्मा, मल, ओजस्, संघात, बली, बल, सौम्यधातु, धव।

### कफ का ऐतिहासिक परिचय

इतिहास समुपाश्रित्य ज्ञानमत्र नियोजितम्।  
ऐतिहासिक ज्ञान शून्यानां नूनं सिद्धिर्यदृच्छ्या।।

किसी भी विषय के ऐतिहासिक ज्ञानाभाव में सफलता भाग्य से ही प्राप्त होती है किन्तु उसका ज्ञान हो जाने पर सफलता निश्चित प्राप्त होती है, इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन आचार्यों ने इतिहास के महत्व को गम्भीरता से समझा।

इतिहास शब्द का विश्लेषण करने पर इति ह् आस् घञ् त्र इतिहास, अर्थात् इति इस प्रकार से ह त्र निश्चय रूपेण, आस त्र भूतकालिक प्रयोग था। अतः व्युत्पत्ति के अनुसार इस प्रकार निश्चित रूपेण था ऐसा इतिहास शब्द द्वारा ज्ञात होता है।

इतिहास में अतीत की सत्य घटनाओं का उल्लेख होता है। वर्तमान व भविष्य उन्हीं स्वीकृत तथ्यों पर आधारित रहते हैं। चिकित्सा शास्त्र के क्रमिक विकास का अवबोध भी इतिहास के माध्यम से ही होता है। व्याधि के स्वरूप ज्ञान के संबंध में भी यही वक्तव्य है, किसी भी रोग चिकित्सा क्रम या अन्य भावों में पूर्ववर्ती अनुसंधानका परिचय इतिहास के माध्यम से ही होता है। इस प्रकार इतिहास का अवलोकन कर शोधकर्ता आगे अन्वेषण कार्य में प्रवृत्त होता है और शोध कार्य में सहायता मिलती है।

वेद संसार का आदि ग्रन्थ है, अधिकांश विद्वान आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद मानते हैं। काश्यप संहिता में आयुर्वेद को पंचमवेद माना गया है। सुश्रुत ने अध्याय का प्रारम्भ ही वेदोत्पत्ति अध्याय से किया है। वेदों में आयुर्वेद की अभिव्यक्ति ब्रह्मा के माध्यम से हुई है, प्रस्तुत शोध-पत्र में कफ के ऐतिहासिक विवेचन निम्न प्रकार से है।

1. वैदिक काल
2. संहिता काल
3. संग्रह काल
4. आधुनिक काल

### वैदिक काल

ऋग्वेद में कफ का वर्णन बलास नाम से मिलता है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद दोनों में ही आयुर्वेद संबंधी विषयों का उल्लेख होने के कारण इसे किसका उपवेद माना जाए, इसके बारे में कहा जाता है कि अथर्ववेद में अधिक वर्णन होने से आयुर्वेद का ही उपवेद मानना चाहिए।

परन्तु इस शोध प्रबंध में वेदों के साथ अन्य पौराणिक ग्रन्थों से संबंधित श्लेष्मा विषयक उपलब्ध उद्धरणों को वेद नामानुसार क्रमशः उद्धृत किया जा रहा है -

### ऋग्वेद में श्लेष्मा

1. त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजात्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भयः।।  
ओमानं शंयोर्ममकाय सूनेव त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती।। (ऋ. 7/6)
2. या वः शर्मशशमानाय सन्ति त्रिधातूनि दाशुषे यच्छताधि।।  
अस्मभ्यं तानि मरुतो वि यन्त रचि नो धत्त वृषणः सुवीरम्। (ऋ. 14/12)

हे अश्वि द्वय, हमें रोग नामक दिव्य औषधियाँ तीन बार दो, पार्थिव औषधियाँ तीन बार दो, जलो से तीन बार रोगों का नाश करो। हमारी संतान की रक्षा करो और सुख दो। सब सुखों को तिगुने रूप में प्रदान करो।

सारांश रूप में हम कहें कि इस मन्त्र में 'त्रिधातु' शब्द से एव त्रि पार्थिवानि का प्रयोग वात, पित्त एवं कफ के लिए हुआ है त्रिधातु पद पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण ने लिखा है हे सुन्दर जगत के पालन करने वाले अश्विनी कुमार तुम वात, पित्त एवं कफ इन धातुओं का भलीभाँति प्रशमन करो।

हे मरुतो स्तोता और हविदाता को तुम जो इच्छित से तिगुणा सुख देते हो तो वह हमको दो। हे वीरों उत्तम संतान से युक्त धर्मों को हमें धारण करावो।

इस सूक्त में त्रिधातुनि पद की व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द ने वात, पित्त एवं कफ और लोहा, सोना तथा चाँदी दोनों अर्थ किये हैं।

### यजुर्वेद में श्लेष्मा

#### (क) उप जमन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा।

अग्नेपित्तमपामसि मण्डूकि तामिरागति सेमं नो यज्ञं पावक वर्णं शिवं कृधि। (यजु. 17/6)

हे अग्नि! तुम पृथ्वी पर आकर बेंत की शाखा का आश्रय लेकर सब नदियों में शिवाल (कफ, जल) का आश्रय लो। तुम जलो के तेज हो और हे मण्डूकि तुम भी जलों के तेज के समान हो। अतः जलों के साथ यहाँ आओ। हमारे इस तेज रूप यज्ञ को अग्नि के समान तेजस्वी और फल देने वाला बनाओ।

#### (ख) नाशयित्री बलासस्यार्शऽउचितामसि।

अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकरोरसि नागनी।। (यजु. 12/97)

हे वैद्य! जो प्रवृद्ध हुए कफ की अर्श या अन्य बढ़े हुए रोगों की नाश करने वाली औषधि है और जो सैकड़ों क्षयकारी और मुख रोगों और मर्मों का छेदन करने वाले शूल की निवारण करने वाली औषधि को जानों।

उपरोक्त मन्त्र संख्या 'क' में अग्नेपित्तमपामसि इस पद से पित्त को जल का तेजस् रूप बतलाया गया है। द्वितीय मंत्र संख्या 'ख' में बलास शब्द 'कफ' दोष स्वरूप ही मिलता है।

## सामवेद में श्लेष्मा

इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरुथं स्वस्तये।  
छर्दिर्यच्छ मधवदभयश्च मह्यं च यावया दिद्युमेन्यः॥  
(साम. 3/4)

हे ईश्वर! तु हमारे कल्याण के लिए त्रिधातु वात, पित्त एवं कफ से बने तथा त्रिविध तापों के आश्रयभूत शरीर को हमसे पृथक कर तु हमें और इन उत्तम कर्म वालों के लिए मोक्ष नाम का दिव्य धाम प्रदान करें।  
यहाँ पर त्रिधातु वात, पित्त कफ के लिए प्रयुक्त हुआ है।

पयस्य देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः।  
वायुमारोह धर्मणा। (9/8/1)

हे सोम दिव्य हुआ प्राकृत शुद्ध तथा वर्णशील सर्वगुण सम्पन्न युक्त ऐसा रस इन्द्र को प्राप्त हो और इसे वायु द्वारा धारण किया जाए, अर्थात् धारक रस वायु को मिले।  
सारांशतः यहाँ प्रत्येक द्रव्य का शरीर प्रवेश करने तथा उसे शरीर में व्यवस्थित रखने आदि क्रिया वायु द्वारा ही सम्पन्न होने के कारण यहाँ सोम रस रूपी जल का ग्रहण कर आरोग्य बनाओं।

## अथर्ववेद में श्लेष्मा

मुंच शीर्षक्त्या उत कास एवं परुष्परुराविवेशा यो अस्य।  
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च।  
(अर्थ. 1/12/13)

हे सूर्य! इस पुरुष को सिरदर्द, श्लेष्मा कास आदि रोगों से मुक्त कराये, जो इसके अंग-अंग में प्रवेश कर गये हैं। वर्षा एवं जल के संयोग से उत्पन्न हुआ है। श्लेष्मा रोग वायु से उत्पन्न हुआ वात रोग, पित्त विकृति से उत्पन्न हुए ज्वरादिरोगों से इस पुरुष को मुक्त कराये। ये रोग समुह इसे छोड़कर वन में, वृक्षों में एवं निर्जन पर्वतों में चले जाए।  
इस श्लोक में अभ्र, वात एवं शुष्म शब्दों का प्रयोग क्रमशः वात, पित्त एवं कफ के लिए हुआ है।

अस्थिसंसंपरुः संसमास्थितं हृदयामयम्।  
बलासं सर्व नाशयांगेष्ठा यश्च पर्वसु॥ (6/14/1)

शरीर में अस्थि और पर्वों को शिथिल करने वाला हृदय में रोग रूप से स्थित श्लेष्मा है, उसे नष्ट कर जो अंगों और पर्वों में स्थित है।

## श्लेष्मा की कार्मुकता

को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरा तायतामिति।  
मेधं को अस्मिन्धौहत् को बाणं को नृतोदधौ॥  
(अर्थ. 10/2/17)

प्रजापति ने रेतो से नवीन उत्पन्न करने की युक्ति युक्त परम्परागत क्षमता वाला बुद्धिमान को इसको बुद्धिबल से प्रयोग करना चाहिए। सारांश यह है कि श्लेष्मा का सप्तम धातु शुक्र का इस श्लोक के अनुसार प्रजोत्पादन में ही बाण की तरह प्रयुक्त करना चाहिए नहीं तो बुद्धि, मेधा आदि जिनको बढ़ाता है, उन्हें नहीं बढ़ायेगा।

## शरीर में श्लेष्मा का स्थान

मूर्धानमस्य संसीव्याधर्वा हृदयं च यत्।  
मस्तिष्कादुर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥ (अर्थ.  
10/2/26)

प्रजापति ने इसके शिर और हृदय को श्लेष्मा के द्वारा मिलाया है। उस उर्ध्व श्लेष्मा (तर्पक) वायु से शुष्क शीर्ष स्थान को और हृदय सक्षम बनाया।  
परमात्मा ने मनुष्य के मुर्धा तथा हृदय को एक में लिया हुआ है। अतः प्राकृत श्लेष्मा शिरो भाग में और हृदय में स्थित रहता हुआ प्रत्येक अवयव को अपनी क्रिया के लिए दृढ़ करता है।  
यदि काम से तथा बिना काम से हृदय से उत्पन्न होता है, उस हृदय और अंगों में श्लेष्मा को बाहर निकालते हैं।  
हृदय श्लेष्मा का पोषक स्थान होने से इसमें वृद्धि को प्राप्त श्लेष्मा व अन्य श्लेष्मा अन्य दोषों को क्षय होने से रोकने के अप्राकृत श्लेष्मा को शरीर से बाहर निकालता है।

## श्लेष्मा का रोग प्रतिरोधक क्षमता

आसो बलासो ..... चमहं त्वत् । (अर्थ. 9/8/10)

निर्बल हो थूक के रूप में बलास। रोग युक्त मूत्र हो सब रोगों के विष को निकालता हूँ, तुम से।

ऊर्वो रोजो जंघयोर्यवः पादयोः।  
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानि भृष्टः॥ (अर्थ.  
19/60/2)

ऊर्वों में ओज, घुटनों में वेग, पांशों में प्रतिष्ठा निरोग हो मेरा सब अंग एवं आत्मा।

प्राकृत श्लेष्मा के लक्षण  
ओजोऽस्योजो मे दाःस्वाहा। (2/17/1 अर्थ.)

तू ओज है, ओज मुझे दे।

बलमसि बले मे दा स्वहा। (2/17/3)

तू बल है, बल मुझे दे।

परिपाणमसि परिपाणे मे दाः स्वाहा। (2/17/7)

तू पालक है, पालन शक्ति मुझे दे।

आयुरस्यायुर्मे दा स्वाहाः। (2/17/4)

तू आयु है, मुझे आयु दे।

अर्थात् श्लेष्मा के प्राकृत रहने पर आयु, बल, पालन, शक्ति, ओज, सभी प्राकृत रूप में स्वास्थ्य को बढ़ाने वाले तथा शरीर पत्थर के सदृश दृढ़त्व प्रदान करके सौ वर्ष आयु करता है।

## अथर्ववेद में श्लेष्मा

शिवो ते स्तां ब्रीहि यवावबलासावदोमधौ।  
एतो यक्षं वि बाधेते एतौ मुंचतो अंहसः॥ (8/2/18)

यहाँ पर बलास शब्द कफ के लिए प्रयुक्त हुआ है।

अश्रेष्माणो.....गवामिव। (3/9/2)

यहाँ पर 'श्रेष्मा' शब्द से कफ का ग्रहण किया गया है। सायण ने इसकी व्याख्या में लिखा है यथा –

श्लेष्मोपलक्षित त्रिदोष दूषित शारीर रहिताः।

**अथर्ववेद में उद्धरणों का सारांश**

सब वेदों में प्राचीन ऋग्वेद में सभी विषय वर्णित हैं, आयुर्वेद का वर्णन ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में अधिक मिलता है। अन्य दो वेदों में इसका वर्णन कम है। इसका कारण यह है कि ऋग्वेद में सभी विषय सूत्र रूप या विस्तृत रूप से वर्णित है।

अथर्ववेद में अन्य वेदों की अपेक्षा आयुर्वेद का विषय अधिक है। अथर्ववेद सबसे बाद की रचना है। अतः इसमें अन्य वेदों की अनेक विषयों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में भी आयुर्वेद का पर्याप्त विषय प्राप्त होता है। लेकिन अथर्ववेद में इससे व्यवस्थित एवं विस्तृत स्वरूप देखने को मिलता है। अथर्ववेद की अथर्वागिरस के रूप में प्रसिद्ध है। यह युग्म स्वरूप है। अथर्वागिरस की उत्पत्ति का वर्णन गोपथ ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से मिलता है। अथर्ववेद को ब्रह्मवेद की संज्ञा दी गई है, तथा इसके पढ़ने वाले व्यक्ति को तीन वेदों का अध्ययन किये माने हुए पर भी पुनः उपनयन कराना होता है। अन्य वेदों की अपेक्षा यह अधिक आयुर्वेद समुह है तथा संहिताकारों ने स्पष्ट कहा है कि चारों वेदों में वैद्य को अथर्ववेद में भक्ति (श्रद्धा) रखनी चाहिए।

ऋग्वेद के पश्चात् अथर्ववेद में भी त्रिदोषात्मक एवं बलास रूप श्लेष्मात्मक वर्णनों की बहुलता देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि त्रिदोष सिद्धान्त की मान्यता पुरी तरह स्वीकृत हो चुकी थी, त्रिदोष की उत्पत्ति एवं तज्जन्य रोगों का भी वर्णन किया गया है। इसके साथ-साथ बलास शब्द से श्लेष्म विकृति रोग संज्ञक होने से श्लेष्मा का ग्रहण किया गया है लेकिन श्लेष्मा शब्द का कहीं भी विवेचन नहीं है।

साहित्य के क्रमिक वर्णन में वेदों के बाद ब्राह्मण, उपनिषद, सूत्र-पुराण, स्मृति आदि अनेक ग्रंथ हैं जिनमें प्राप्त श्लेष्मा के वर्णन को यहाँ प्रस्तुत किया जाना चाहिए था लेकिन जिस रूप में श्लेष्मा का वर्णन यहाँ किया जा रहा है उस स्वरूप की अभिवृद्धि ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में प्राप्त वर्णन के विशेषण नहीं हो पायेगी क्योंकि ब्राह्मणादि ग्रन्थों में वैदिक विषयों की ही प्रतिच्छाया मिलती है। इतना अवश्य है कि इनमें विषय का विस्तृत रूप प्राप्त होता है। लेकिन श्लेष्मा के विस्तृत रूप की प्राप्ति में ब्राह्मणादि ग्रंथ भी विशिष्ट सहायक नहीं है। इसके लिए संहिता ग्रंथों का ही आश्रय लेना पड़ेगा। लेकिन संहिता ग्रंथों के वर्णन से पहले तथा वेदों के वर्णन के बाद में इतिहास प्रसिद्ध रामायण, महाभारत, गीता आदि में प्राप्त प्रसंगों का भी इसी शीर्षक के अन्तर्गत वर्णन कर देना गलत नहीं होगा। उसका वर्णन निम्न प्रकार से किया जा रहा है –

**रामायण में श्लेष्मा का ऐतिहासिक संदर्भ**

वैदिक साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत के आदि काव्य बाल्मिकी रामायण में भी भगवान धन्वन्तरि को आयुर्वेद पुरुष माना है। इसको सभी मुनि एक मत से स्वीकार करते हैं। साथ ही कहते हैं। “अथः वर्ण सहश्रेण आयुर्वेदमयः पुमान्”

उदष्टित् सुधर्मात्मा सदण्ड सकमण्डलुः।  
पूर्व धन्वन्तरिर्नाम अप्सराश्च सुर्वचसः।।

समुद्र मंथन में वह धर्मात्मा भगवान धन्वन्तरि अपने अमृत कलश के साथ प्रकट होने के बाद सागर से सुन्दर कान्ती वाली बहुत सी अप्सरायें प्रगट हुईं तथा मनुष्यों में श्रेष्ठ मन्थन करने से ही अप् में उनके रस से सुन्दर स्त्रियाँ उत्पन्न हुई थी, इसीलिए अप्सरा कहलाई। यथा

अप्सुनिर्मथनादेव रसात् तस्माद् वरः स्त्रियः।  
उत्पेतुर्मनुज श्रेष्ठ तस्मादप्स रसोऽभवन्।।  
पुष्टि— कोट्योऽभवत् तासामप्सराणां सुवर्चसाम्।।

समुद्र मंथन के समय देवताओं की आज्ञा से हमने औषधियों का संचय किया था, जिसके द्वारा अमृत को मथकर निकाला था, उन दिनों हम महाबली बने थे।

तथा चौषधयोऽस्यामिः संचिता देव शासनात्।  
निर्मथ्यममृतं याभिस्तदानी नो महदबलम्।।  
(कष्किन्धा काण्ड 66सर्ग 33)

इस प्रकार रामायण में बाल्मिकी ने स्थान-स्थान पर अमृत तथा सुधा का नामोल्लेख किया है तथा अमृतरस के आविष्कार की पौराणिक कथा को भी बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि अमृत एक पेय द्रव्य है तथा कई प्रकार के पेय द्रव्यों की तुलना करते हुए अमृत को कई बार साथ लिया है। अमृत के समान जल, अमृत फल, अमृत के समान मधुर अमृत के समान वाणी, अमृत के समान स्वादिष्ट, अमृत तुल्य भोजन।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अमृत एक पेय है जो पानी की तरह निर्मल है, रुचिकर है मधुर है जिसका तात्पर्य श्लेष्म प्रधान जल से लगाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य कथा के अनुसार रावण सीता को हर कर लंका ले गया वहाँ अशोक वाटिका में सीता सदा ही राक्षसियों से घिरी रहती थी और अपने पतिदेव के दर्शन से वंचित थी।

इस प्रकार परम सुख में पली वह राजकुमारी दुख से सर्वदा आक्रान्त रहती थी तथा भोजन करना भी छोड़ दिया था।

सीता जी वहाँ पर भोजन नहीं करती अतः वह अपने प्राणों का परित्याग कर देगी – ब्रह्मा की आज्ञा से इन्द्र उत्तम प्रकार के श्लेष्मा जन्य पदार्थों के द्वारा खीर सिद्ध करके ले गये थे।

इन्द्र ने लंका में प्रवेश करके सभी राक्षसों में निद्रा, आलस्य, शैथिल्य आदि विकृत श्लेष्मा गुणों की अभिवृद्धि करके निद्रा, तंद्रा, भ्रम, आलस्य आदि को उत्पन्न कर दिया तथा सीता को अशोक वाटिका में धैर्य बाँधते हुए औषधसिद्ध श्लेष्मवर्द्धक क्षीर सीता जी को दी तथा कहा यदि मेरे हाथों से इन 'हविष्य (खीर) को लेकर खा लोगी तो तुम्हें वर्षों तक भूख और प्यास नहीं सतायेगी।

तस्मादन्नमिदं सीते हविष्यान्न महंस्वयम.....वर्षाणामयुतेरपि।  
(अरण्य 57)

इस प्रकार उपरोक्त सन्दर्भों के अनुसार स्पष्ट होता है कि जल शरीर में उदक कर्म द्वारा रुचिकारक, मधुर, षड्रस का ज्ञान कराने वाला तृष्टि आदि कर्म करता है तथा साथ ही बल्य एवं दृढता उत्पन्न करने वाला होता है।

**गीता में श्लेष्मा का वर्णन**

तामसादपि भूतादेर्वि..... द्रष्टृदृश्योः।।  
भागवत। स्कन्ध 2/अध्याय 5/श्लोक 25

जब पंचमहाभूतों के कारण रूप तामस अहंकार में विकार हुआ तब उससे आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश की तन्मात्रा और गुण शब्द है। इस शब्द के द्वारा ही दृष्टा और दृश्य का बोध होता है।

अतः सभी आचार्यों एवं ऋषि महर्षियों ने जल महाभूत में पार्थिव गुण विद्यमान होते हैं एक मत से स्वीकार किया है तो स्पष्ट होता है कि त्रिदोष के निर्माण में वायु, जल एवं पृथ्वी महाभूत प्रधान द्रव्य है। अतः वेदान्त में महर्षियों ने पृथक् रूप में श्लेष्मा या कफ नाम से कहीं भी वर्णन नहीं किया बल्कि समान गुण भूयिष्ठ जल का ही महाभूतान्तर्गत एवं दोषान्तर्गत कफ संज्ञा स्वीकार किया है।

क्षुत्त्रिधातु.....क्रम सदिते में ।(भा.3/9/8)

ब्रह्माजी ने भगवान विष्णु से कहा – इस प्रजा को भूख प्यास वात, पित्त, कफ, सर्दी, गर्मी, हवा और वर्षा से परस्पर एक दुसरे से तथा कामाग्नि और क्रोध से बार-बार कष्ट उठाते देखकर मेरा मन बड़ा खिन्न होता है।

यहाँ पर धातु शब्द के द्वारा धारण धातु रूप त्रिदोष (वात, पित्त एवं कफ) का ग्रहण किया है तथा इसके प्राकृत कर्मानुसार बाह्य प्रकृति एवं शारीर प्रकृति अर्थात् दृष्टा व अदृष्टा (शरीर) में होने वाली प्रतिक्रिया की समता को स्पष्ट करते हुए समान रूप से परिवर्तन होते हैं। अतः मनुष्य को समयानुसार आहार-विहार में भी परिवर्तन करना आवश्यक है, इसका निर्देश किया है।

### महाभारत में श्लेष्मा

त्रयो हि धातवः ख्याताः कर्मजा इति ते स्मृताः।  
पित्तम् श्लेष्मा च वायुश्च एव संधात उच्यते ॥ 86  
एतैश्च धार्यते जन्तुरेतैः क्षीणैश्च क्षीयते।  
आयुर्वेद विदस्तस्मात् त्रिधातुं मां प्रचक्षते ॥ 87  
(महाभारत शांतिपर्व 342)

शरीर में तीन धातु विख्यात हैं – वात, पित्त और कफ। वे सब के सब कर्मजन्य माने गये हैं। इनके समुदाय को त्रिधातु कहते हैं। जीव इन धातुओं के रहने से जीवन धारण करते हैं और उनके क्षीण होने पर क्षीण हो जाते हैं इसलिए आयुर्वेद विद्वान् इसे त्रिधातु कहते हैं।

वातपित्त कफाद रक्तं त्वदमांससनायुमस्थि च।  
मज्जां देहं शिराजालैस्तर्पयन्ति रसा नृणाम् ॥ (214/16  
शांतिपर्व)

भोजन से प्राप्त हुए रस नाड़ी समुहों द्वारा संचारित होकर मनुष्यों के वात, पित्त, कफ, रक्त, त्वचा, मांस, स्नायु, अस्थि, चर्बी एवं सम्पूर्ण शरीर को तृप्त एवं पुष्ट करते हैं।

### संहिता काल

इसका काल ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दि से चतुर्थ शताब्दि तक माना गया है जिसके अन्तर्गत अद्य उपलब्ध संहितायें यथा.....चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, भेलसंहिता, हारीत संहिता एवं काश्यप संहिताओं का समावेश होता है चूंकि ये संहितायें आयुर्वेद चिकित्सा संबंधी हैं तथा आयुर्वेद चिकित्सा के मौलिक सिद्धान्तों में से त्रिदोष का एक भेद कफ का प्रचूर मात्रा में वर्णन मिलना स्वाभाविक है आयुर्वेद का समग्र साहित्य कई भागों में विभक्त है। इनमें से सर्वप्रथम आयुर्वेद तंत्रों का सृजन हुआ किन्तु उनका लघु रूप में था जिसे परवर्ती आचार्यों ने अपनी विद्वता से वृद्धि किया जो आज संहिता ग्रंथों के रूप में है इनमें से चरक संहिता आयुर्वेद चिकित्सा का सबसे प्राचीन एवं महत्वपूर्ण ग्रंथ है तथा शारीर क्रिया एवं चिकित्सा की दृष्टि से अद्वितीय है तथा हारीत संहिता एवं भेल संहिता भी इसके समकालीन हैं क्योंकि इनमें वर्णित विषयों के उपदेष्टा एक ही हैं जो आत्रेय हैं तथा सुश्रुत संहिता शारीर और शल्य विषयक अत्यंत महत्वपूर्ण एवं प्राच्य ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त काश्यप संहिता कौमार भृत्य विषयक ग्रंथ है। अपितु इन संहिताओं में प्राप्त कफ विषय विचारों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

### कफ का स्वरूप

श्वेत्य, शैत्य, गौरव, स्नेह, माधुर्य, पैच्छिल्य, मात्स्न्य, ये सब श्लेष्मा के आत्म रूप कहे गये हैं। अविदग्धावस्था में यह मधुर और विदग्ध होने पर लवण रस प्रधान होता है। यह प्राकृत रूप में बल और विकृत रूप में मल संज्ञा होता है। यह बल रूप में स्थित कफ 'ओज' कहलाता है और मल रूप में 'पाप्मा' कहा जाता है। इस प्रकार कफ का स्वरूप संहिताओं में प्राप्त होता है जिनका वर्णन –

श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च।  
मधुरस्त्वविदग्धः स्याद् विदग्धो लवणः स्मृतः। (सु.सू.  
21/15)

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृता मल उच्यते।  
स चैवौजः स्मृत काये स च पाप्मोपदिश्यते ॥ (च.सू.  
17/117)

### गुण

गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरपिच्छिलाः।  
श्लेष्मणः प्रथमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणा ॥ (च.सू. 1/61)

गुरु, शीत, स्निग्ध, मधुर, मृदु, पिच्छिल ये सब कफ के गुण हैं, शरीर में अच्छ, मृदु, स्तिमित श्लक्षण, सार, सान्द्र, मन्द ये गुण कफ के कारण ही होते हैं। इसका प्रमाण यह है कि इनके विपरीत गुण वाले द्रव्यों के सेवन से इनका द्यस और समान गुण वाले द्रव्यों के सेवन से इनकी वृद्धि होती है। इसमें तमोगुण का आधिक्य रहता है। इस प्रकार इन गुणों का वर्णन संहिताओं में मिलता है।  
कर्म :-शरीर के अन्दर स्नेहभाव उत्पन्न करना, बन्धनों को स्थिर रखना, गुरुता उत्पन्न करना, वृषता तथा बल को कायम रखना और बढ़ाना, क्षमाशक्ति उत्पन्न करना, धैर्य तथा अलोभ को उत्पन्न करना ये सब प्राकृत कर्म श्लेष्मा का हैं।  
कफ आप्यधातु तथा सौम्य धातु होने से शरीरस्थ सभी धातुओं में आर्द्रता उत्पन्न करता है और उन्हें सूखने से बचाता है। इस प्रकार ये कफ के कर्मों का वर्णन संहिताओं में मिलता है।

स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्।  
क्षमा धृतिरलोभश्च कफ कर्माविकारजम् ॥ (च.सू. 18/51)  
माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रकलेदित्वात्तथैव च।  
आमाशये सम्भवति श्लेष्मा मधुरशीतलः। (सु.सू. 21/13)

### स्थान

कफ के स्थानों के बारे में विचारवन्तों में एक वाक्यता है तथा उरः, शिरः, ग्रीवा, पर्व, आमाशय का उर्ध्व भाग, मेद, कण्ठ, घ्राण, जिह्वा और क्लोम को कफ का स्थान माना गया है। आमाशय को प्रसादभूत कफ का उत्पत्ति स्थान बताकर उरः को कफ का प्रमुख कार्य क्षेत्र बताया है। इस प्रकार इन स्थानों का वर्णन मिलता है।

### कफ प्रकृति

सात प्रकार की प्रकृतियों का वर्णन करते हुए आचार्यों ने कफज प्रकृति का भी विस्तृत वर्णन किया है जिसके अन्तर्गत शारीरिक एवं मानसिक भावों का विवरण दिया गया है जिसके अनुसार शारीरिक लक्षणों में जैसे – शरीर सुन्दर सुडौल तथा सुविभक्त होता है। शरीर के अंग स्थिर, पुष्ट तथा भरे हुए बांहे लम्बी तथा गोल, वक्षस्थल पुष्ट एवं मस्तक ऊँचा होता है। वर्णन निर्मल सुवर्णवत् मुख प्रसन्न, नेत्र प्रसन्न, पलकें काली, केश काले चमकदार, चाल गजवत्, स्थिर सिंह के समान, मैथुन शक्ति सम्पन्न तथा शारीरिक विकार अल्प होते हैं।

मानसिक लक्षणों में सात्विक चित्त वाला, सत्यवादी धर्मत्मा, स्मृतिवान, स्थिर स्वभाव, कृतज्ञ, वीर, सहिष्णु, ओजस्वी, शांत, दीर्घायु, निर्लोभी होता है। इस प्रकार कफज प्रकृति के लक्षणों का उल्लेख चरक, सुश्रुत तथा भेल संहिताओं में मिलता है।  
इसके अतिरिक्त कफक्षय तथा कफवृद्धि के लक्षण, प्रकुपित कफ के कर्म तथा कफ नानात्मक विकारों का वर्णन एवं कफ प्रकोपक कारणों का वर्णन इन संहिताओं में मिलता है।

### संग्रह काल

संग्रह काल का समय मूल रूप से पांचवी शताब्दी तक माना जाता है। इस काल में कफ की क्रिया शारीर एवं कफ से संबंधित अवयवों का रचना शारीर का वर्णन करते हुए कफ के पांच भेदों का नामतः वर्णन मिलता है जो कि पूर्व के संहिताओं में नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त इनमें कफ विषयक वर्णन करते हुए

पूर्व के आचार्यों की मौलिकता को स्थायी रखा गया है। इसमें अष्टांग संग्रह, अष्टांग हृदय एवं शार्गधर संहिता का समावेश इस काल में किया गया है।

### अष्टांग संग्रह

यह संग्रह काल का प्रथम ग्रंथ है जिसके लेखक आचार्य वाग्भट है जैसे कि इसके नाम से ही ज्ञात होता है यह आयुर्वेद के आठों अंगों का संग्रह है तथा रचनाकार ने चरक, सुश्रुत द्वारा प्रदत्त मौलिक सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए कफ के पांच भेदों का विवरण एवं व्याख्या स्पष्ट की है तथा कफ का वर्णन क्रमबद्ध किया है। सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय आयुष्कामीय में त्रिदोष के भेद के रूप में एक भेद कफ का वर्णन करके उसकी समता को आरोग्य एवं क्षय वृद्धि को रोग बताया है। तथा इसी अध्याय में दोषों का जाठराग्नि एवं कोष्ठ पर प्रभाव का वर्णन, दोषों के गुण, दोषों की प्रकृति, दोषों के संसर्ग एवं सन्निपात वर्णन के अन्तर्गत कफ का वर्णन किया है।

सूत्रस्थान के 19 वें अध्याय दोषादि विज्ञानीय में कफ के कर्म, वृद्ध कफ के कर्म, क्षीण कफ के कर्म, तथा 20 वें अध्याय में कफ की उत्पत्ति, स्थान, भेद तथा कफ नानात्मक विकारों का वर्णन किया है।

सूत्रस्थान के 21 वें अध्याय के कफ उपक्रम शारीर स्थान के आठवें अध्याय में कफ प्रकृति वर्णन, निदान स्थान के प्रथम अध्याय में कफ प्रकोपक कारणों का विस्तार से वर्णन मिलता है।

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण ग्रंथ में स्थान-स्थान पर रोगों के निदानों के प्रसंग में पंचकर्मों के प्रसंग में, रोगों के भेदों के वर्णन में तथा विभिन्न कल्पनाओं के प्रसंग में यत्र-तत्र कफ का उल्लेख मिलता है।

### अष्टांग हृदय

इस ग्रंथ की रचना वाग्भट के पौत्र वाग्भट द्वितीय द्वारा पद्य शैली में कि गई है तथा इसमें अष्टांग संग्रह के गद्यों को ही पद्य रूप में प्रदर्शित किया गया है। फिर भी इसमें सूत्र स्थान के प्रथम आयुष्कामीय अध्याय में त्रिदोष के प्रसंग में कफों का वर्णन तथा उसकी प्राकृत एवं वैकृत अवस्था का वर्णन तथा कफ का अग्नि एवं कोष्ठ पर प्रभाव, कफ की अवस्था, कफ के स्थान, कफ प्रकोप काल, कफ के गुणादि का वर्णन किया है तथा सूत्रस्थान के ही 11वें दोषादि विज्ञानीय अध्याय में कफ साम्य लक्षण, वृद्ध कफ के लक्षण, क्षीण कफ लक्षण एवं 12 वीं अध्याय में कफ के स्थान कफ के भेद, कफ के कर्म कफ चय प्रकोप काल का वर्णन तथा 13वें अध्याय में कफ के उपक्रम तथा शारीर स्थान तीसरे अध्याय में कफ प्रकृति वर्णन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण ग्रंथ में स्थान-स्थान पर रोग, निदान पंचकर्म, रोग भेद तथा कल्पनाओं के प्रसंग में यत्र-तत्र कफ का उल्लेख मिलता है।

### शार्गधर

शार्गधर संहिता में आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों का वर्णन अल्प तथा भेषज्य कल्पनाओं का वर्णन अधिक मिलता है तथा शार्गधर ने मौलिक सिद्धान्तों का अनुसरण बृहत्रयी का ही किया है। अतः इसमें कफ का वर्णन विशेष नहीं मिलता फिर भी पूर्व खण्ड द्वितीय अध्याय में ऋतु भेदानुसार दोषों का चय, प्रकोप, बारह राशियों के क्रम दोषों का चय प्रकोप प्रशमन का वर्णन मिलता है। जिसके अन्तर्गत कफ का वर्णन मिलता है, पांचवे अध्याय में कफ के विवरण अन्तर्गत कफ के गुण, स्थान एवं भेदों का वर्णन है तथा सातवें अध्याय में कफ के नानात्मज विकारों का वर्णन है।

मध्यम खण्ड में कल्पनाओं के विविध प्रकारों में कफ दोष शमनार्थ योगों का वर्णन है तथा उत्तरखण्ड में पंचकर्म के वर्णन में भी कफ दोष शमनार्थ योगों का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त कफ की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन यत्र-तत्र प्राप्त होता है।

### आधुनिक काल

आधुनिक काल का समय ईशा पश्चात् 16 वीं शताब्दी के बाद का माना गया है। इस काल में मुख्य विरचित ग्रंथ भावप्रकाश, भेषज्य रत्नावली, चक्रदत्त, योगरत्नाकर, नाडी तत्व, दर्शन, सिद्धान्त निदान इत्यादि हैं। कफ विवेचन की दृष्टि से इस काल के आचार्यों का कोई विशेष योगदान नहीं है। सभी आचार्यों ने चरक सुश्रुतादि कफ के भेदोपभेद का ही दिग्दर्शन कराया है।

कफ के प्रकार कर्म, स्थान, उपादेयता, विकृतऽविकृत स्वरूप महात्म्य आदि विषयों पर इस काल के आचार्यों ने संहिता कालीन आचार्यों के ही मत का अनुसरण किया है। विभिन्न संहिता एवं संग्रह ग्रन्थों के स्वतंत्र मतों का उल्लेख पूर्व में प्रस्तुत कर दिये जाने से आधुनिक कालीन इन ग्रंथों के पृथक्शः विचार यहाँ इसलिए प्रस्तुत नहीं किये जा रहे हैं क्योंकि उनमें कफ विषयक कोई नवीन विचारधारा प्राप्त नहीं होती है।

कफ के ऐतिहासिक विषयक इस प्रकरण में उपलब्ध शास्त्रीय ग्रन्थों को विभिन्न कालानुसार विभाजित करते हुए उनमें उल्लेखित कफ के ऐतिहासिक ज्ञान का उल्लेख किया गया है।

### कफ का सैद्धान्तिक परिचय

किसी भी विज्ञान के विकास के लिए क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित सिद्धान्त का होना आवश्यक होता है और उन्हीं सिद्धान्तों के द्वारा वह विज्ञान आगे बढ़ता है तथा विद्वानों के द्वारा समर्थन मिलता है, चूँकि आयुर्वेद भी एक चिकित्सा विज्ञान है तथा उसमें निश्चित सिद्धान्त है उन्हीं सिद्धान्तों के अध्ययन मनन से अविज्ञात रोगों की चिकित्सा एवं अविज्ञात औषधियों के गुण धर्म ज्ञात किये जा सकते हैं। उन्हीं सिद्धान्तों में से अंश रूप कफ का परिचय निम्न उपशीर्षकों की सहायता से जानने की कोशिश किया गया है जो कि बृहत्रयी के आचार्यों द्वारा समर्थित एवं अनुमोदित है।

1. प्राकृत कफ का विवेचन एवं निर्माण की प्रक्रिया
2. प्राकृत कफ का स्वरूप
3. प्राकृत कफ के गुण
4. प्राकृत कफ के कर्म
5. प्राकृत कफ के स्थान
6. प्राकृत कफ के भेद।

### प्राकृत कफ का विवेचन एवं निर्माण की प्रक्रिया

“साम्यं प्रकृति रूच्यते” स्वस्थावस्था में जब ये दोष अपने प्राकृत कर्म करते रहते हैं तो शरीर स्वस्थ बना रहता है। वातादि दोषों का प्राकृत परिमाण में रहकर प्राकृत कर्म करते रहना ही साम्यावस्था का द्योतक है।

त्रिदोष में प्रधान महत्त्व रखने के कारण सृष्टि उत्पन्न क्रमशः कफ सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता हुआ शरीर को स्थिरता प्रदान करता है। शरीरस्थ दोषों में सर्वाधिक शक्तिशाली आधार स्तम्भ यही है। स्वस्थावस्था में शरीर के सम्पूर्ण कार्यों को सम्पन्न करने के क्रम में श्लेष्मा का किसी न किसी रूप में सहयोग अवश्य होता है।

यह श्लेष्मा समावस्था में रहने पर प्राणियों के स्वास्थ्य का संरक्षण, स्निग्धता, धातुपोषक शरीर की समस्त संधियों को मिलाने वाला, व्याधिक्रमत्व एवं शरीर बल का कारण माना गया है। इसी को आचार्य चरक ने स्पष्ट किया है—

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते।

स चैवोजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते।। (च. सू. 17/47)

### सुश्रुतानुसार

संधिसंश्लेषणस्नेहरोपणपूरण बल स्थैर्यच्छ्लेष्मा पंचधा प्रविभक्त उदक कर्मणाऽनुग्रहं करोति।। (सु. सू. 15/5)

संधियों को चिकना रखना आहार को गीला बनाना, व्रणों को भरना, रिक्त स्थलों को पूर्ण करना, बल उत्पन्न करना एवं स्थिरता उत्पन्न कर पांचों प्रकारों में विभक्त होकर उदक कर्म के द्वारा शरीर को लाभ पहुँचाता है।

हमारे शरीर के अन्दर पिताग्नि द्वारा होने वाले धातु पाक के कारण जिस प्रकार तन्तुओं के विघटन की प्रक्रिया होती है, उसी प्रकार साथ ही साथ नवीन तन्तुओं के निर्माण का क्रम भी चलता रहता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक जीवन व्यापार चलता रहता है। जब शिशु शरीर से प्रारम्भ होकर बढ़ता हुआ 20-25 वर्ष की आयु तक पहुँचता है तब प्रत्यक्ष में उसकी वृद्धि रुकी हुई प्रतीत होती है। परन्तु यह वृद्धि कर्म तब भी होता रहता है उस समय इस शरीर में जीर्ण घटकों के स्थान पर नवीन घटक उतनी संख्या में बनते हैं जिससे ये स्थान पूर्तिमात्र करते जाते हैं। यह पुनःनिर्माण का कार्य जीवन में लगभग एक वर्ष तक भली प्रकार होता रहता है। शरीर की वृद्धि कर्म का उपादान वह तन्तु रस समझा गया है जिसका जनक "आहार रस" है। आहार रस में देह के सम्पर्क से कोई जीवनीय विशेषता उत्पन्न हो जाती है, जिससे यह देह जातीय बन जाता है। इस रस में से उत्पाद्यमान तन्तु अपना-अपना आहार प्राप्त करते हैं। उक्त तन्तु रस में एक ऐसा आधारभूत या मौलिक तत्व पाया जाता है जो वृद्धि कर्म का सम्पादन करता है और क्षत-विक्षत तन्तुओं का सुधार करके उन्हें प्राकृत रूप से प्रदान करता है। आयुर्वेद में इसे कफ (श्लेष्मा) शब्द कहा गया है। वह आधारभूत वस्तु जो पार्थिव और विशेषतः जलीय (अप) तत्व के प्रभाव से विविध परिणाम उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं।

उपचय गुण के साथ-साथ यह विविध रोगों के जीवाणुओं तथा विषों के लिए भी घातक सिद्ध हुआ है आगन्तुज रोगों के विरुद्ध शरीर में एक प्रकार के ओजो बल या प्रतिशक्ति उत्पन्न करता है। आयुर्वेद में यह प्रतिशक्ति कफ के विशिष्ट रूप "ओज" में मानी गयी है। उक्त कफ ही रक्तद्रव, च्सेउद्ध रस धातु आदि के माध्यम से देहभर में व्याप्त होता है। यह कफ द्रवभूत रूप है और शरीर के सब ओर सदा विद्यमान रहता है।

कफ सौम्य है इसकी उत्पत्ति "पृथ्वी" और "अप" महाभूतों के प्राधान्य से हुई है। इन दोनों में तमो बहुला पृथ्वी और सत्वतमो बहुला आपः में तमो गुण मुख्यतः और सत्वगुण अल्प होने के कारण "कफ" में तमो गुण का बाहुल्य रहता है।

"अप" तत्व की प्रधानता होते हुए भी श्लेष्मा पांच भौतिक द्रव्य है आप्य अंश सबसे अधिक, पार्थिव अंश उससे कम, आग्नेय अंश अल्पतर, वायव्य अंश अल्पतम और नाभस अंश की सभी भौतिक पदार्थों में स्वतः विद्यमान है।

- आप्य अंश — 5 भाग
- पार्थिव अंश — 3 भाग
- तेजस अंश — 1 भाग
- वायव्य अंश — 1/2 भाग
- नाभस अंश — 1/2 भाग

देह के भीतर अंजली परिमाण में इसकी मात्रा मानी गयी है। यह हमारे शरीर में भौतिक आहार द्रव्यों से निर्मित होता है। विशेषतः आप्य और पृथ्वी प्रधान खाद्य, पेय वस्तुओं के पाचन के पश्चात् पक्व आहार रस जब रसाग्नि द्वारा रस धातु में परिणत होता है तब अवान्तर द्रव्य का किट्ट रूप श्लेष्मा का प्रादुर्भाव होता है। यह श्लेष्मा रसरक्त के साथ सम्पूर्ण शरीर में संचरित होता हुआ सभी सूक्ष्म स्थूल अवयवों को पोषित करता है। यह उपचय और उदक कर्म दोनों करता है।

इस प्रकार यह अवयवों को पोषक अंश देकर एवं अनेकानेक कोशाओं और तन्तुओं को संश्लिष्ट करता हुआ अंगावयवों का संवर्धन करता रहता है। यह श्लेष्मा रस से शुक्र पर्यन्त प्रायः प्रत्येक देह धातु का पोषक एवं संवर्धन करता है। शरीर रचना

शास्त्र की दृष्टि से देह में विद्यमान तन्तुरस, पोष्य रस, रक्तद्रव, गर्भरस श्लेष्मिक स्राव, मस्तुलंग आदि इसी तरह के अन्य तरल पदार्थ देह वृद्धि रोग प्रतिरोधक शक्ति एवं स्निग्ध होने के कारण अवयवों को आपस में रगड़ होने से बचायें रखता है। ये सभी श्लेष्मा के निवास स्थान कहे गये हैं। इनमें भी मुख्य रस धातु का आश्रय है। अतः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उपस्थित सजीव-निर्जीव का संगठित स्वरूप एवं विभाजित स्वरूप में श्लेष्मा का संश्लेषण, स्नेहन आदि कार्य है, स्वस्थ शरीर में सन्धि संश्लेषण, अन्न, क्लेदन, व्रण रोपण आदि के रूप में कार्य हो रहे हैं। प्राकृत श्लेष्मा के कर्म स्वरूप आत्म लक्षण है।

प्राकृतावस्था में कफ बल रूप में होता है। इसके प्रासादांश भाग में ओज एवं मल रूप को पाप्मा कहा गया है अर्थात् शरीर में उक्त गुण सम्पन्न हो पदार्थ देखने में आता है वह सभी श्लेष्मा का रूप है तथा विकृतावस्था में यह मल स्वरूप है।

### प्राकृत कफ के निर्माण की प्रक्रिया

पाचकाग्नि से उपयोगिता पर्यन्त समस्त सामग्री का विचार करके लिया गया अशित, खादित, पीत, लीढ आदि अन्नपान शरीर में दोषों, धातुओं और मलों का साम्य बनाये रखता है। तथा आयु की स्थिरता एवं वृद्धि करता है।

जब अशित, पीत आदि चार प्रकार का अन्न-पान का सेवन किया जाता है तो खाने के तत्काल पश्चात् अन्नपान का मधुर अवस्थापाक है। इसमें समस्त अन्न माधुर्य को प्राप्त करता है। शेष द्रव्यों का रस अभिभूत हो जाता है। इस माधुर्य के कारण इस अवस्थापाक में कफ की वृद्धि होती है। और यदि आहार में कफवर्धक मधुर, अम्ल, लवण रस, पिच्छिल, द्रव, स्नेह, क्लेद, गुरु, शीत, गुणयुक्त आहार की मात्रा अधिक हो तो कफ वृद्धि विशेष होती है और यदि शरीर में ऐसे समय कफज रोग पहले से विद्यमान हो तो उनके बल, काल में वृद्धि हो जाती है। आमाशय कफ की उत्पत्ति और समय का प्रधान स्थान है अतः अन्नपान के आमाशय में आने पर कफ वृद्धि होती है परन्तु यह वृद्धि तत्कालिक ही होती है।

आमाशय में अन्न का संधात नष्ट होकर वह पित्त के संसर्ग में आता है, इससे अन्न विदग्ध होकर अम्ल हो जाता है, इसे अम्लावस्था पाक कहते हैं। यह अर्द्धपक्व अन्न पाक की सम्पूर्णता के लिए ग्रहणी में आता है। ग्रहणी में स्वच्छ और तनु पित्त का उदीरण होता है। यदि पित्तवर्धन आहार का सेवन अधिक मात्रा में किया गया हो तो यह पित्त वृद्धि विशेष रूप से होती है। जब तक अन्न का पूर्णतया पाचन नहीं हो जाता तब तक अन्न यही रहता है।

अन्न परिपाक के पश्चात् अग्नि तथा वायु पक्व अन्न को रस और मल दो भागों में विभक्त कर देते हैं। यह अन्न रस या सार भाग शोषित होकर शरीर के सार या प्रसादभूत धातु, उपधातुओं का पोषण करता है तथा किट्ट भाग से शरीर के मलों की पुष्टि होती है। प्रत्येक धातु की अपनी-अपनी अग्नि होती है। जिस प्रकार जाठराग्नि की अन्नपान पर क्रिया होने के कारण जैसे उसका सार तथा किट्ट दो भागों में विभाजन होता है उसी प्रकार प्रत्येक धातु में जब रस पहुँचता है तो उस पर धात्वाग्नि कि क्रिया से पाक होकर परिणाम में दो द्रव्य बनते हैं। प्रसाद भाग और किट्ट भाग बनता है।

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।

यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्ट प्रसादवत्।।

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोस्थि च।

अस्थानो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भ प्रसादः।।

(च. चि. 15/15-16)

क्रम परिणाम पक्ष के अनुसार प्रत्येक धातु के धात्वाग्नि से पाक होने पर पूर्व धातु के दो भाग होते हैं। सारभूत उत्तरधातु के उपधातु एवं उस धातु के अपने-अपने मल।



डल्हन इसकी टीका करते हुए कहते हैं कि अपने-अपने अग्नि से पाक होने पर सम्पूर्ण पूर्वधातु तथा उसके उपधातु के रूप में परिवर्तित नहीं हो जाता, अपितु सारभाग के दो विभाग होते हैं एक स्थूल भाग अर्थात् स्वयं पूर्वधातु तथा द्वितीय सूक्ष्म भाग अर्थात् उत्तरधातु और उसके उपधातु।

अन्नपान की जाटराग्नि से पाक होकर सार अन्न रस बनता है, तथा मल, मूत्र और अधोवायु। अन्नरस इस धातु से मिलकर उसकी वृद्धि करता है। इस रस धातु का रसाग्नि से पाक होकर सूक्ष्म भाग रक्त धातु तथा उपधातु स्तन्य स्थूल भाग रस तथा मल भाग कफ और लसिका उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार समूचित आहार का सेवन करने पर अग्नि के समान रहने पर उसका पाचन होकर अन्न रस बनता है और यह अन्न रस जब धातुओं में जाता है तो सम रसाग्नि द्वारा पाचन होने पर उससे रक्तादि धातुओं उपधातुओं का निर्माण होता है। साथ ही मल रूपी कफ का निर्माण होता है। इस समस्त क्रिया के उचित प्रकार से होने पर उत्पन्न कफ का निर्माण भी प्राकृत होता है इससे समस्त श्लेष्म स्थानों का पोषण होता है और यह शरीर की क्रियाओं को किस प्रकार नियमित बनाये रखता है।

### प्राकृत कफ का स्वरूप

श्लेष्मा के जो गुण और कर्म बताये गये हैं वे ही श्लेष्मा के स्वरूप के प्रतिपाद हैं। वस्तुतः जो श्लेष्मा हमें स्थूल रूप से दिखाई देता है केवल वही उसका स्वरूप नहीं है अपितु जिन गुण और कर्मों के आधार पर शरीर में व्याप्त होकर शरीर का उपकार करता है, वे गुण और कर्म ही उसके स्वरूप के प्रतिपाद हैं, विभिन्न मार्गों से बाहर निकलने वाला श्लेष्मा तो मल रूप होता है और उसका बाहर निकलना ही उपयुक्त रहता है।

शरीर के धारण कर्म में प्रयुक्त होने वाला कफ सूक्ष्म रूप से शरीर के अवयवों में व्याप्त रहता है अतः आचार्यों ने श्लेष्मा के स्वरूप के संबंध में केवल उसके गुण कर्म को ही आधार माना है। सामान्यतः जो श्लक्षण, मृदु, स्थिर, श्वेत, स्निग्ध, सान्द्र और गुरु गुण वाला होता है, वह श्लेष्मा कहलाता है। इस प्रकार गुणों से युक्त शरीर में व्याप्त किन्तु स्थूल रूप से प्राप्त नहीं होने वाला श्लेष्मा होता है। यही श्लेष्मा शरीर को धारण करता है, किन्तु जब इसमें विकृति या वृद्धि होती है तो वह द्रव्य स्थूल रूप को प्राप्त होकर शरीर से बाहर निकलने लगता है।

यद्यपि श्लेष्मा एक पांचभौतिक द्रव्य है तथापि इसमें जल महाभूत की प्रधानता होती है। आचार्यों ने श्लेष्मा का स्वरूप निर्धारण गुणानुरूप किया है जो कि निम्न प्रकार से है –

### श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्षणमृदु मधुर सार सान्द्र मन्दस्तिमित गुरु शीतपिच्छिल अच्छः। (च. चि.अ. 8/96)

● स्निग्ध	—	चिक्कण
● श्लक्षण	—	खरता रहित
● मृदु, मधुर, सार	—	तत्वरूप
● सान्द्र	—	गाढ़
● मन्द स्तिमित	—	शिथिल
● गुरु	—	भारयुक्त
● शीत, पिच्छिल	—	अच्छ विमल गुणरूप है।

माधुर्य स्नेह गौरव शैत्य पैच्छिल्य गुण लक्षणः श्लेष्मा।  
(सु. सू. 42/9)

मधुरता, स्निग्धता, गुरुता, शीतलता और पिच्छिलता गुण स्वरूप अर्थात् इन गुणों से युक्त लक्षणों वाला श्लेष्मा है।

सौम्यः शीतो गुरुः स्निग्धो बलवान् कफको बहुः।  
(काश्यप संहिता खिल स्थान)

कफ सोम गुण युक्त शीत गुरु स्निग्ध बलयुक्त और बहुगुण रूप है। सौम्यगुण शक्ति देने वाला और आग्नेय गुण बल का ह्रास करने वाला होता है। श्लेष्मा तु मधुरः स्निग्धः शीतो मन्दः स्थिरो गुरुः। (भेल संहिता विमान-1)  
श्लेष्मा, मधुर, स्निग्ध, शीत मन्द स्थिर और गुरु रूप है।

स्निग्धोः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः।  
(अ.सं.सू. 1/29)

कफ स्निग्ध शीत गुरु मंद श्लक्षण मृत्स्न और स्थिर गुण स्वरूप है। श्लेष्मा के स्वरूप या आत्म लक्षण के वर्णन में चरक, सुश्रुत, काश्यप, भेल, वाग्भट सभी ने प्राकृत श्लेष्मा का गुण वर्णनात्मक लक्षण देते हुए उसके स्वरूप का निरूपण किया है। सभी आचार्यों का अभिप्राय ज्ञात होता है कि उपर्युक्त स्निग्ध शीत गुरु आदि गुणों का स्वस्थ देह में जो-जो प्रभाव देखने में आता है उसके आधार पर प्राकृत या धातु रूप श्लेष्मा का ज्ञान किया जा सकता है।

धातु अवस्था में श्लेष्मा वात-पित्त के सदृश ही देह धारक है। इसके ये गुण शरीर पर अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करते हैं, और ये वात तथा पित्त के विरोधी गुणों को संतुलित अवस्था में बनाये रखते हैं।

प्राकृत श्लेष्मा अपने शीत, मधुर, मन्द, गुरु, गुणों से पित्त के उष्ण कटु तीक्ष्ण लघु गुणों का नियमन करता है। इसी प्रकार अपने स्निग्ध, गुरु, श्लक्षण स्थिर पिच्छिल गुणों से वात के क्रमशः रुक्ष लघु परुष चल विशद गुणों को मर्यादित रखता है। सब मिलकर श्लेष्मा को स्निग्ध, श्लक्षण, मृदु, सार, सान्द्र, मन्द, स्तिमित, गुरु, शीत, पिच्छिल, अच्छ सौम्य बलवान बहुगुणमय या इन गुणों के स्वरूप वाला बताया गया है।

उक्त गुणों का विशेषताओं के कारण स्वस्थ शरीर के भीतर श्लेष्मा का निम्नलिखित प्रभाव देखने को मिलता है।

स्निग्ध गुण के कारण शरीरावयवों में त्वचा पर तथा व्यक्ति के स्वभाव में भी स्निग्धता बनी रहती है। श्लक्षण गुण से त्वचा, नख नेत्र केश चमकदार और स्पर्श में मसृण प्रतीत होते हैं। मृदु गुण के कारण देहावयव कोमल और देखने में प्रिय लगते हैं। माधुर्य गुण से रस शुक्र आदि धातुएं प्रचुर मात्रा में बनती हैं। सार गुण के कारण ओज के रूप में तत्व भाग अधिक होता है और शरीर सुदृढ़ बनता है। सान्द्र गुण के प्रभाव से मांसपेशियाँ अस्थि आदि परिपुष्ट ठोस एवं दृढ़ होती हैं शरीर भरा हुआ रहता है। मन्द के कारण शरीर चेष्टायें धीमी और धीरतापूर्वक होती हैं ऐसे व्यक्ति के भोजन, पान, भ्रमण आदि कार्य मन्थर गति से हुआ करता है। स्तिमित गुण के प्रभाव से मनुष्य किसी भी कार्य को सोच विचारकर धीरे-धीरे प्रारम्भ करता है वह शीघ्र भावावेश में नहीं आता है। गुरु गुण के कारण देह में गुरुता, चाल-ढाल में गौरव तथा स्वभाव में भी गौरव रहता है। शीत गुण के प्रभाव से भूख-प्यास कम रहती है, उष्णता की अनुभूति अधिक नहीं होती है। पिच्छिल या मृत्स्न गुण के कारण रस, रक्त शुक्रादि में पिच्छिलता है। शरीर तन्तु उत्तम रूप से संश्लिष्ट रहते हैं और संघियों सुदृढ़ रूप में बंधी रहती है। अच्छ गुण के कारण शरीर इन्द्रिय, मन, निर्मल रहते हैं, स्वभाव निच्छिल होता है। स्थिर गुण के कारण शरीर धातुओं के चयापचय में स्थिरता होती है चाल स्थिर, इन्द्रियाँ अचंचल तथा मन शांत रहता है, स्वभाव में भी स्थैर्य होता है। सौम्य गुण सोम या चन्द्रमा की विशेषता का बोधक है। इस गुण के प्रभाव से श्लेष्मा चन्द्रमा के सदृश देह में विसर्गकर्म अर्थात् रस का आधान करता है जिससे शरीर मन तृप्त रहते हैं। बलवान या शक्ति स्रोत होने से श्लेष्मा शरीर में ओज की सृष्टि करता है और इन्द्रिय शक्तियों के साथ-साथ रोग क्षमता शक्ति भी उत्पन्न करता है। बहु गुण के प्रभाव से शरीर में शरीर धारक तत्वों की बहुलता होती है और मनुष्य सन्ततिशील होता है।

इन सब गुणों द्वारा उत्पन्न किये गये उपर्युक्त प्रभावों पर दृष्टि डालने से प्रकृत श्लेष्मा के स्वरूप की कल्पना सहज ही की जा सकती है और यही प्राकृत श्लेष्मा का लक्षण है। सुश्रुत ने अन्यत्र संश्लेषण-स्नेहन आदि कर्मों का निर्देश करते हुए श्लेष्मा का कार्य वर्णनात्मक लक्षण भी दिया है। उसका यह अभिप्राय है कि स्वस्थ शरीर में संधि संश्लेषण, अन्न क्लेदन व्रण रोपण आदि के रूप में जो कर्म सम्पन्न हो रहे हैं उनको देखने से भी हमें प्राकृत श्लेष्मा का स्वरूप का बोध होता है। यह स्वरूप बोध या स्वरूप ज्ञान का सूत्र ही श्लेष्मा का लक्षण कहा जाता है। संक्षेप में प्राकृत श्लेष्मा को स्थिरता, शीतलता, मृदुता, स्निग्धता, पिच्छिलता आदि से युक्त कहने का प्रयोजन यह है कि स्वस्थ शरीर में उक्त गुणों का जो प्रभाव देखने में आता है उससे हमें प्राकृत स्वरूप ज्ञान होता है।

### प्राकृत कफ के गुण

श्लेष्मा के गुणों से अभिप्राय उन गुणों से है जिनके समान गुण वाले द्रव्यों का सेवन करने से श्लेष्मा की वृद्धि होती है एवं इन गुण युक्त द्रव्यों का निषेध करने से श्लेष्मा का ह्रास होता है ये गुण आचार्यों ने निम्न प्रकार से माने हैं -

गुरु शीत मृदु स्निग्ध मधुर स्थिर पिच्छिलः।  
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीत गुणैर्गुणाः॥ (च. सू. 1/61)

गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, स्थिर, पिच्छिल ये श्लेष्मा के गुण हैं, इनके विपरीत लघु, उष्ण, रूक्ष, सर, विशद गुणों से युक्त द्रव्यों के सेवन से श्लेष्मा के उक्त शांत हो जाते हैं।

श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च।  
मधुरस्त्वविदग्धः स्याद् विदग्धो लवणः स्मृतः॥ (सु. सू. 21/15)

श्लेष्मा श्वेत वर्ण, भारी, चिकना, लसदार, शीतल, कोमल स्थिर गुणों से युक्त होता है। यह अविदग्ध अर्थात् पक्व हुई अवस्था में मधुर और विदग्ध अवस्था में लवण हो जाता है।

कफः स्निग्धो गुरुः श्वेतः पिच्छिलः शीतलस्तथा।  
तमोगुणाधिकः स्वादु विदग्धो लवणो भवेत्॥ (शा. पू. 5)

कफ स्निग्ध गुरु श्वेत पिच्छिल और शीतल गुण युक्त है यह तमोगुण प्रधान होता है और विदग्धावस्था में नमकीन हो जाता है।

मधुरं लवणांम्लौ च विद्यात् कफ समान रसान। (भेल वि.)

मधुर अम्ल लवण रसों को कफ के समान रस युक्त समझना चाहिए।

श्लेष्मा के गुरु आदि सभी गुण पृथ्वी और अप् महाभूतों की प्रधानता से उत्पन्न गुण हैं। महागुणों की दृष्टि से यह तमों गुण प्रधान है।

### गुरु

गुरुः वातहरं पुष्टि श्लेष्म कृ चिरपाकं च । (भा. पू. ख.)

गुरु गुणवाला द्रव्य अत्यधिक प्रयोग करने से श्लेष्मा में गुरुत्व गुण की अभिवृद्धि करता है। जिससे उरस्थ श्लेष्मा घनता को प्राप्त कर स्रोतरोध उत्पन्न करता है तथा शरीर में अवसाद अर्थात् ग्लानि एवं क्रिया हीनता होता है। इसका अधिक प्रयोग करने पर शरीर में कफ मल रूप में अधिक होता है क्योंकि यही कफ प्राकृतावस्था में उक्त गुण भूयिष्ठ होता है तो तृप्ति और पुष्टि करने वाला तथा देर

से पाचन करने वाला होता है। यही कारण है कि कफ प्रधान व्यक्ति में भारीपन अत्यधिक पाया जाता है। अतः यह भी कफ का लक्षण है।

शरीर के विभिन्न स्थानों में पाये जाने वाले लाला रस, आमाशयिक श्लेष्म स्राव, रसधातु रक्त द्रव्य, संधि द्रव, मस्तुलुंग द्रव, गर्भ द्रव आदि को लें तो इनका आपेक्षिक गुरुत्व 1005 से 2000 तक के बीच में आता है अर्थात् श्लेष्म मूलक ये सभी स्राव अपेक्षाकृत भारवान् गुरुता युक्त या गुरु गुण युक्त होते हैं।

### शीत

ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्च्छा तृट् स्वेद दाहजित् स्तम्भन हिम....। (सु. सू. 46)

शीत गुण भूयिष्ठ द्रव्य का सेवन करने से शीतानुभूति प्रतीत होती है तथा कफ वृद्धिगत स्वगुणानुरूप होकर दाह को शांत करता है तथा शारीरिक स्रावों का स्तम्भन करने वाला, मूर्च्छा तृष्णा, स्वेद और दाह को मिटाने वाला होता है यह गुण द्रव्य में जल महाभूत गुण भूयिष्ठता के कारण उत्पन्न होता है। शीत गुण को वात भी अपने गुणों की वृद्धि कर श्लेष्मागत स्थानों पर शिथिलता कम्प वात लोम हर्ष उत्पन्न करता है। इस गुण की अभिवृद्धि से श्लेष्मा का ह्रास होता है तथा वह अपने प्रकृतिरस्थ स्थान से वायु द्वारा स्थानान्तरित होकर संधि स्थलों में अवरोध उत्पन्न कर देता है। शीत गुण प्रकृतावस्था में प्रधान रहने पर पित्त द्वारा उत्पन्न विकार तृषा, दाह, स्वेद, मूर्च्छा आदि का प्रशामक होता है। ये सभी कार्य श्लेष्मा या कफ का लक्षण है।

आमाशयिक श्लेष्म स्राव, लाला रस, रस धातु, रक्त द्रव, संधि द्रव, मस्तुलुंग द्रव, गर्भ द्रव आदि श्लेष्मिक स्रावों में 99 प्रतिशत जलांश होने से तथा शीत गुण युक्त द्रव्यों द्वारा इन सब स्रावों की वृद्धि होने से इनकी सजातीयता के कारण इनके भीतर शीत गुण की प्रधानता मानी गयी है। ये स्राव, दाह, विकोभ, उष्णता को दूर करने की क्षमता भी रखते हैं अर्थात् प्रकृति से भी शीत है।

### मृदु

मृदुरन्यथा (दाह पाक शमनस्तीक्षणश्च) (सु. सू. 46/525)  
तोयाकाश गुण भूयिष्ठं मृदुत्वं। (सु. सू. 4)

मृदु गुण भूयिष्ठ द्रव्य के सेवन से कफ की अभिवृद्धि तथा मृदत्व गुण की वृद्धि होती है, जिससे शरीर में होने वाले दाह पाक आदि से होने वाले विकृति को तथा दूषित स्रावों की सुलभता से आसानी से बाहर निकाल देता है, तथा रोपण गुण द्वारा उस स्थान को सुनियोजित बनाता है।

यहाँ कफ में जो मार्दवता या कोमलता पायी जाती है यही इसकी मृदु गुण भूयिष्ठता होती है जिसके द्वारा यह शरीर से दूषित द्रव्यों को बाहर निकालने का कर्म करता है। इस गुण भूयिष्ठ द्रव्यों के जल तथा रोगी निरन्तर श्लेष्म क्षय रोग से पीडित होगा तथा वायु एवं पित्त अपने-अपने कर्मानुसार वृद्धि को प्राप्त कर अपने गुणाधिक्य से प्रभावित करते रहेंगे और रोगी निरन्तर क्षीण होता रहेगा। ये स्राव यद्यपि तरल होते हैं, किन्तु पिच्छिलता या लेस के कारण ये साहसा फैल नहीं पाते और गाढ़े रहते हैं, इसी से इनमें स्थिर आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं, देह में भी ये इन गुणों का प्रादुर्भाव करते हैं।

पिच्छिलो जीवन्नो बल्यः सन्धानः श्लेष्मलो गुरुः।  
(सु. सू. 46/524)

कफ का यह गुण प्रधान है, पिच्छिल गुण भूयिष्ठ द्रव्यों के सेवन से श्लेष्मा लुवाब एवं सन्धान कार्य में समर्थ होता है इस गुण के

कारण श्लेष्मा बलकारक एवं भारीपन तथा उपलेप करने वाले कर्मों को सम्पादित करता है पिच्छिल गुण जल महाभूताधिक्य से पाया जाता है। आचार्य भाव प्रकाश ने पिच्छिल गुण बाहुल्य के कारण श्लेष्मा को बलकारी एवं संधान कहा है। अतः श्लेष्मा पिच्छिल गुणाधिक्य तथा जल महाभूत का उत्पाद होने से प्रकृतिस्थ ही होता है, इसी बात की पुष्टि आचार्य सुश्रुत ने की है।

### श्वेत

श्वेत गुण भूयिष्ठ श्लेष्मा पूर्ण रूप से स्वच्छ एवं मलरहित श्वेताभयुक्त स्फटिक सदृश होता है अतः यह गुण भी श्लेष्मा का प्राकृतिस्थ होता है। जिसके द्वारा श्लेष्म विकृति को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है एवं आकाश महाभूत की प्रधानता होने से क्लेदयुक्त मृदु होता है तथा आकाश महाभूत होने से शरीर से बाहर अर्थात् अंग प्रत्यंगों से दूषित मलों को लेकर आकाश गम्य अर्थात् त्वचा के माध्यम से स्वेद, पिडिका अन्य विकृत स्वरूप में प्रदर्शित होता है तथा मृदु गुण प्रधानता के कारण ढीलापन या कोमलतायुक्त देखते हैं अतः यह गुण भी कफ का गुण है जो कि अप् एवं आकाश महाभूत प्राधान्य होते हुए कफ में अधिष्ठित रहता है।

### मन्द

मन्दो यात्रा करः स्मृतः। (सु.सू. 46)

मन्दः सकलकार्येषु शिथिलो अल्पोहि कथ्यते। (भा. पु.)

यह गुण भी द्रव्याश्रित रहकर अपने प्राकृतिक स्वभावानुसार मन्दता को उत्पन्न करता है। यहाँ मन्द गुण से अभिप्राय है चिरकारी या देरी से कार्य करने वाला या अल्प करने वाला होता है। मन्द गुण भूयिष्ठ द्रव्यों के सेवन से श्लेष्मा के मन्दत्व गुण में अभिवृद्धि होती है जिसके कारण श्लेष्मा अपने दूष्यों से अतिशीघ्र प्रभावित नहीं होता है, यदि प्रभावित होता है तो श्लेष्म प्रकृति का रोगी चिरकाल तक औषध सेवनोपरांत ही अपने प्राकृत स्वरूप को प्राप्त करता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उरः क्षय रोगी होता है। इस गुण वाला दूष्य पृथ्वी एवं जल महाभूताधिक्य है। और श्लेष्मा भी पृथ्वी एवं जल महाभूत प्रधान तत्व होने से गुणाधिक्य बहुल होता है।

### स्थिर

स्थिरो वात मल स्तम्भी। (भा.पू.ख.)

द्रव्याणि स्थिर गुण बहुलानिपर्थिवानि। (च.सू. 2)

श्लेष्मा स्थिर गुण बहुल होता है। इसी गुण बाहुल्य के कारण चिर स्थायी अर्थात् अधिक समय तक नष्ट न होने वाला स्वभाव होता है। स्थिर बाहुल्य गुणों से युक्त पदार्थों का सेवन करने से शरीर में वात एवं मल का स्तम्भन होता है। यदि इस गुणाधिक्य द्रव्यों का सेवन नहीं किया जाय तो शरीर से श्लेष्मा धातुरूप मल में अधिक दूषित होकर शरीर से बाहर निकलने लगेगा श्लेष्मा का अन्य गुण श्वेत होने से बाह्य रूप से श्लेष्म स्रावों का रंग श्वेत ही देखने में आता है। यद्यपि शुरु में ये जल सदृश हुआ करता है। जल का अपना रंग भी श्वेत माना जाता है।

### मधुर

यह कफ का गुण है, तथा सभी आचार्यों द्वारा एकतानुरूप स्वीकार्य है। अतः कफ की अभिवृद्धि होने पर शरीर में सर्वप्रथम मधुरत्व की अभिवृद्धि होती है। तथा मुख कण्ठ आदि के श्लेष्मा स्राव मधुर ही अनुभव होते हैं, जल को मधुर रस स्वीकार किया गया है। श्लैष्मिक स्राव में स्थित पार्थिवांश भी मधुरता उत्पन्न करता है। मधुर गुण की अभिवृद्धि होने पर शरीर में रूक्षता एवं खरता नष्ट होती है। कफ का प्रधान स्थान उरः प्रदेश है तथा मधुर गुण का

सबसे पहले हृदय एवं उरः प्रदेश पर ही प्रभाव होता है। कफ की वृद्धि हो जाने पर प्राण वायु का अवरोध एवं श्वास कृच्छता उत्पन्न होती है।

### स्निग्ध

स्नेहमार्दव कृत् बलवर्ण करस्तथा।

यह कफ का प्रधान गुण है तथा सभी आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। स्निग्ध गुण शरीर में स्निग्धता अर्थात् क्लेद और मृदुता उत्पन्न करने वाला बल एवं वर्ण को बढ़ाने वाला होता है। इन गुणों से युक्त पदार्थों का अत्यधिक सेवन करने से उरः प्रदेश में कफ की वृद्धि होती है तथा वायु के द्वारा उत्पन्न रूक्ष गुणों का ह्रास करता है। इस गुण युक्त पदार्थों के अतिसेवन से वृद्धि होती है एवं अग्निमांद्य हो जाता है स्निग्ध द्रव्यों में जल महाभूत विशिष्ट रूप से है इसी गुण से शरीर में स्निग्धता उत्पन्न होती है और शरीर की संधियाँ परस्पर संयुक्त होती है।

इस गुण के वृद्धि होने से शरीर में रूक्षता एवं खरता का अभाव होता है जो वात का प्रधान गुण भूयिष्ठ है। इसलिए श्लेष्मा बृद्धिगत चिकित्सा से रूक्ष अन्नपान आदि के द्वारा की अभिवृद्धि होती है स्निग्ध द्रव्यों में जल महाभूत का विशेष गुण होता है इसी गुण से द्रव्यों में स्निग्धता उत्पन्न होती है तदवत् प्रयोग से शरीर में भी तदवत् गुण अभिवृद्धि होती है।

महागुणों में से तमस् की श्लेष्मा में प्रधानता है। यह स्थापना इसके मुख्य उपदाभूत जल और पृथ्वी महाभूतों में तमोगुण की बहुलता के आधार पर की गयी है। तमोगुण के कारण ही प्राकृत श्लेष्मा द्वारा मनुष्य में सहन शक्ति, धैर्य लोभहीनता जैसे गुणों का प्रादुर्भाव होता है।

उक्त स्निग्ध, शीत, गुरु, पिच्छिल, मन्द, श्वेत गुण श्लेष्मा में पाये जाते हैं। ये सभी गुण प्राकृत अप एवं पार्थिव गुणाधिक्य संयोग से अपने उपदान के कारण से उपस्थित होकर कार्य द्रव्य श्लेष्मा में अवस्थित होते हैं तथा स्व समान गुणाधिक्य द्रव्यों के सेवन से वृद्धत्तर होकर तदनुरूप श्लेष्मा का निर्वाह करते हैं। अर्थात् इन सभी गुणों से युक्त अप एवं पार्थिव महाभूत प्रधान द्रव्य श्लेष्मा या कफ है जो सर्व प्राणिमात्र का जन्मदाता है। अन्य दोष इनके साथ ही अपने कर्मों को सम्पादित करते हैं।

### प्राकृत कफ के कर्म

सोम एवं शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति, तद्यथा दाढर्य शैथिल्यमुपचयं काश्यमुत्साहमालस्यं वृषतां क्लीबतां ज्ञानमज्ञानं बुद्धिं मोहमित्येवमादीनी चापराणि द्वन्द्वानीति। (चरक सू. 12/12)

कफ के अन्तर्गत रहने वाला सोम ही कुपित और अकुपित रहकर शरीर में शुभ कार्य एवं अशुभ कार्यों को सम्पादित करता है। जैसे शरीर में दृढ़ता, शिथिलता शरीर का उपचय और काश्य, उत्साह और आलस्य, वृषता और नपुंसकता, विषयों का ज्ञान और अज्ञान, बुद्धि मोह आदि और अन्य द्वन्द्व, शक्ति-अशक्ति आदि को उत्पन्न करता है।

स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्।

क्षमा-घृतिरलोभश्च कफ कर्माविकारजम्।। (च. सू. 18/51)

**स्नेह** – शरीर के विभिन्न स्थानों में स्निग्धता उत्पन्न करना, बन्ध, संधियों को परस्पर सुसम्बद्ध रखना, स्थिरत्व शरीर मन को दृढ़ बनाना, गौरव शरीर और मन में क्रमशः उचित गुरुता एवं गाम्भीर्य उत्पन्न करना, वृषता उत्पादक अंगों को बलिष्ठ रखना तथा रति

की स्वभाविक प्रवृत्ति बनाये रखना, बल शरीर मन इन्द्रियों में सामर्थ्य एवं रोग निग्रह शक्ति उत्पन्न करना, क्षमा सहनशीलता और कष्ट सहिष्णुता उत्पन्न करना, धृति मन में स्थिरता रखना, अलोभ लोभ हीनता उत्पन्न करना ये सब प्राकृत श्लेष्मा के स्वभाविक कार्य हैं।

प्राकृतस्तुबलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते।  
स चैवोजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते।। (च.सू. 17/117)

प्राकृत श्लेष्मा बल रूप है, विकृत को मल कहा जाता है। शरीर के भीतर यही श्लेष्मा ओज के रूप में होता है। और यही विकृत होकर रोग रूप हो जाता है।

स्नेहमंगेषु संधीनां स्थौर्यबलमुदीर्णताम्।  
करोत्यन्यानुगुणांश्चापि बलासः स्वा शिराश्चरन।। (सु. सू. 7/14)

अपनी नाड़ियों में संचार करता हुआ श्लेष्मा देहावयवों में स्निग्धता, संधियों में दृढ़ता, बल सामर्थ्य उमंग-उत्साह, उदात्त भाव तथा इसी प्रकार अन्य गुणों को भी उत्पन्न करता है।

संधिसंश्लेषणस्नेहन रोपण पूरण बल स्थैर्य।  
कृच्छ्रश्लेष्मापंचधाप्राविभक्त उदककर्मणानुग्रहं करोति। (सु.सू. 15/4)

संधियों को चिकना बनाये रखना, आहार को गीला और नरम बनाना, व्रणों को भरना, रिक्त स्थलों को स्रावों से परिपूर्ण रखना, बल सामर्थ्य उत्पन्न करना इत्यादि कार्यों को श्लेष्मा सम्पन्न करता है। यह पांच प्रकारों में विभक्त होकर उदक कर्म के द्वारा शरीर को लाभ पहुँचाता है।

स्थैर्य – स्नेह, संधि बन्ध – वृषता – क्षमता – धी धृति बल – अलौल्यादिभिः श्लेष्माः।

शरीर की दृढ़ता, चिकनाहट और स्नेह भाव संधियों में दृढ़ता रतिशक्ति और मानसिक प्रफुल्लता, सहिष्णुता, बुद्धिमत्ता, धीरता, बल सामर्थ्य और मानसिक स्थिरता आदि कार्यों के द्वारा प्राकृत श्लेष्मा शरीर को लाभान्वित करता है।

प्राकृत श्लेष्मा के उपर्युक्त सब कर्मों को शरीरिक दो वर्गों में रख सकते हैं। इनमें स्नेह बन्ध स्थिरत्व गौरव संश्लेषण, रोपण पूरण, वृषणा आदि शरीरिक कर्म हैं और धृति, क्षमा, धी, अलोभ, स्थैर्य बल आदि मानसिक कर्म हैं। इनके अतिरिक्त देह को ओज प्रदान करना भी श्लेष्मा का कार्य है जिससे देह मन में कई प्रकार की शक्तियाँ और विशेषतायें जन्म लेती हैं।

विचार किया जाय तो श्लेष्मा के कर्मों का भी बहुत विस्तार है इसी से आयुर्वेद के ग्रन्थों में इन्हें संग्रहीत रूप देने की दृष्टि से श्लेष्मा का उदक कर्म उपचय कर्म बल कर्म नाम भी दिये गये हैं इन पर पृथक्-पृथक् विचार कर लेना उपयोगी होगा।

### उदक कर्म

जिस प्रकार वात का सामूहिक कार्य गति कर्म कहा गया है, उसी प्रकार श्लेष्मा का अधिक कार्य-कलाप उदक कर्म के अन्तर्गत उदक कर्म से तात्पर्य है जल से सींचने के समान देह भर को आप्लावित करना।

प्राकृत श्लेष्मा सर्व देह में व्याप्त है, यह आप्य धातुओं के आश्रय से रहता है इनमें भी रस धातु श्लेष्मा का मुख्य वाहक और आधार है। यह इस स्वतन्त्र रूप में भी रहता है और रूधिर के साथ-साथ भी चलता है। देह भर में गति करता हुआ यह रस केशिकाओं की सुषिर भित्तियों में से रिस-रिस कर प्रत्येक धातु-उपधातु आशय

अवयव तक पहुँचता है और वहाँ के तन्तु कोशाओं को उनका अपना-अपना भोजन या पोषक अंश प्रस्तुत करता है।

इस रस से शरीर में स्थान-स्थान पर संधि आदि का संश्लेषण और स्नेहन हुआ करता है, क्षत स्थानों के तन्तुओं की यह मरम्मत करता है जिससे रिक्त स्थलों में तन्तुपूर्ति होकर वे भर जाते हैं, इस रस से सजातीय विजातीय तन्तु परस्पर संयुक्त रहते हैं। यही रस शरीरवर्ती रोग के जीवाणुओं तथा विष द्रव्यों को स्तब्ध करके और पाशवर्ती रस ग्रन्थियों में पहुँचाकर उन्हें देह तन्तुओं से पृथक् कर देता है इस रस में ही जीवाणुओं के भक्षक श्वेत कण आश्रय लिये रहते हैं।

उक्त रस धातु से देहावयवों की आवश्यकता के अनुरूप अनेक प्रकार के स्राव प्रादुर्भूत होते हैं। ये सब के सब आप्य धातु कहलाते हैं, इन सबका जीवन प्राण श्लेष्मा है। इनके अनेक कर्म हैं जैसे – लाला रस द्वारा स्वाद ज्ञान या रस ज्ञान, आमाशयिक स्राव से अन्न का आद्रीकरण और शिथिलीकरण, मस्तिष्कगत स्राव ऋद्ध से इन्द्रिय केन्द्रों का तर्पण, संधि गत स्राव से संधियों का संश्लेषण आदि ये सब अप धातु द्वारा होने वाले आप्य कर्म हैं। अतः ये आप्य धातु श्लेष्मा के वाहक हैं और श्लेष्मामय है, इस कारण इन्हें श्लैष्मिक स्राव या श्लेष्म रस भी कहते हैं और इनके आप्य कर्मों को श्लेष्मा का उदक कर्म कहा जाता है। उक्त उदक कर्म का यह परिणाम है कि वात कर्म जनित रूक्षण और पित्त कर्म जनित पचन-दहन-शोषण के दुष्प्रभाव से शरीर की रक्षा करता है। उदक कर्म के प्रभाव से ही बीसों वर्षों तक देह सन्धियों का संश्लेषण होने के कारण अस्थियाँ घिसने नहीं पाती। श्लेष्मा के उदक कर्म में व्यान वायु इसका सहकारी है और हृदय इसके परम सहायक यंत्र है।

### उपचय कर्म

उपचय अर्थात् वृद्धि करने का कार्य श्लेष्मा अपने उदक कर्म द्वारा सम्पन्न करता है, यह देह भर को आप्लावित किये रहता है जिससे शरीर के विभिन्न प्रयोजन सिद्ध होते हैं। इनमें एक मुख्य प्रयोजन है शरीर तन्तुओं की वृद्धि इसे श्लेष्मा ही पूर्ण करता है। यह देहवृद्धि या उपचय कर्म अनेक प्रकार से होता है। जैसे जब शरीर में ही व्रण हो जाता है तो उसे भरने के लिए नवीन तन्तुओं का निर्माण हुआ करता है और नित्य नवनिर्माण हो कर व्रण को भर देता है। यह तन्तु वृद्धि, श्लैष्मिक स्रावों के वहाँ पहुँचने, सजीव धात्वांश प्राप्त होने, नवीन धातु घटकों के जन्म लेने और उन घटकों या कोशाओं के परस्पर संश्लेषण होते रहने से सम्पन्न हो पाती है। इस प्रकार का साधारण वृद्धि कर्म मानव शरीर में प्रायः नित्य ही देखने में आता है।

परन्तु यदि शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में स्थित महत्वपूर्ण ग्रन्थियों के स्राव की ओर ध्यान दे और उनकी आन्तरिक क्रियाओं का निरीक्षण एवं अध्ययन करें तो इस वृद्धि कर्म पर अधिक प्रकाश पड़ता है जैसे –

चुल्लिका ग्रन्थि, जैलतवपक हसंदकद्ध के स्राव का शरीर के विकाश पर सीधा प्रभाव देखा गया है। इस ग्रन्थि से उत्पन्न श्लैष्मिक स्राव के न्यून होते ही धातु निर्माण की प्रक्रिया शिथिल पड़ जाती है, जिससे शारीरिक और बौद्धिक दोनों प्रकार का ह्रास होने लगता है, अर्थात् श्लेष्मा का उपचय कर्म रुक कर अपचय होना आरम्भ हो जाता है। वृषणों के बहिःस्राव से गर्भोत्पत्ति होती है यह सुविदित है, इनके अन्तःस्राव से शुक्राशय का निर्माण, श्मश्रु का उद्गम आदि वृद्धि कार्य सम्पन्न होते हैं। यह स्मरणीय है कि वृषणों या अण्डकोषों का स्राव शुक्र कहलाता है और शुक्र को श्लेष्मा का अधिष्ठान माना गया है।

पुरुषों में वृषणों के समान स्त्रियों में अन्तःफल होते हैं, इनके बहिःस्राव से डिम्ब का प्रादुर्भाव होकर उससे गर्भ स्थापना होती है और अन्तःस्राव द्वारा एतन्य जनन आदि कई कार्य सम्पन्न होते हैं। मस्तिष्क में स्थित पोषणिका या पीयूष ग्रन्थि, च्यजनजवनतल हसंदकद्ध के कुछ ऐसे स्राव भी हैं जो वृद्धि कर्ममूलक हैं, इनके

शरीर में वे कार्य देखने में आते हैं जो श्लेष्मा के अन्यतम रूप 'ओज' के कहे गये हैं।

इस प्रकार अधिवृक्क ग्रन्थि के आवरण को 'नचतंतमदवस ब्यतजमगद्ध का स्राव, जननेन्द्रियों की वृद्धि तथा मस्तिष्क के विकाश में हेतु पाया गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त ग्रन्थियों के तथा ज्ञात अज्ञात अन्य अवयवों के ऐसे आप्य स्राव जिनसे देह और इन्द्रियों के वृद्धि विकास देखे जाते हो, आयुर्वेद की दृष्टि से श्लेष्मा मूलक है ये सब श्लेष्मा के अन्तर्गत है इनके द्वारा सम्पन्न होने वाला यह वृद्धि और विकास श्लेष्मा का ही उपचय कर्म या वृद्धि कर्म है। शरीर की गुरुता, स्थिरता, वृषता रोपण, पूरण, विकास ये सब उक्त उपचय कर्म के विविध रूप और परिणाम है।

### बल कर्म

श्लेष्मा का स्वरूप वर्णन करते हुए "प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा" इस वाक्य में प्राकृत श्लेष्मा को बल स्वरूप कहा गया है। बल का अर्थ सामान्यतः शरीरिक शक्ति समझा जाता है परन्तु चिकित्सा शास्त्र में बल के कई प्रकार हैं। बल उस शक्ति को भी माना गया है जो दोषों का निग्रह करे अथवा घटते-बढ़ते हुए दोषों नियन्त्रित रखे।

बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणाम्-बल कृच्च तत्। (च. चि. 3/167)

चरक ने प्राकृत श्लेष्मा के स्वरूप वर्णन में श्लेष्मा को बल रूप कहते हुए यह भी लिखा है कि उक्त श्लेष्मा को ही ओज कहा जाता है। श्लेष्मा, बल, ओज ये तीनों एक परम्परा में आ जाते हैं और इन तीनों की एक रूपता सी लक्षित होती है और यह भी लिखा है कि ओज का निर्माण 'आहार रस' से होता है जो सर्व शरीर व्यापी और प्रसरणशील होता है। बल का उत्पाद इस ओज का कर्म है।

संहिता ग्रन्थों यह वर्णित है कि प्राकृत श्लेष्मा हमारे शरीर में मुख्यतः रस धातु के आश्रय से रहता है। रस का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि इसके भीतर अन्य द्रव्यों के अतिरिक्त, कतिपय इस प्रकार के सूक्ष्म और महत्वपूर्ण द्रव्य है यथा - क्षत्रकण (ल्युकोसाइट्स तथा लिम्फोसाइट) प्रतिविष जीवाणु सुदन द्रव्य (Bacteriolysince) जो रोगों का प्रतिकार करते हैं, इनसे रोग निरोधक शक्ति प्रकट होती है, इस शक्ति को रोगक्षमता (Immunity) कहते हैं। यह आने वाली जीवाणुओं और रोगविषों का प्रतिरोध करती है तथा इनके आक्रमणों से शरीर की रक्षा करती है, श्लेष्मप्रद जीवनीय खाद्य पदार्थों के पर्याप्त मात्रा में सेवन करने से इस क्षमता की शरीर में वृद्धि होती है। और जब श्लेष्मा क्षीण हो जाती है तब यह रोग निरोधक शक्ति भी मंद या निर्बल पड़ जाती है। जिसके परिणाम फलस्वरूप नीरोग व्यक्ति रोगों से शीघ्र प्रभावित होने लगता है और रोगी व्यक्ति का रोग कृच्छ्रसाध्य या असाध्य दशा में पहुँच जाता है। रस के भीतर उक्त द्रव्यों तथा विशेषताओं के कारण ही असाधारण है। यह रस धातु, रक्त से शुक्र पर्यन्त तक सब धातुओं तक पहुँचता है ऐसी अवस्था में इन सभी धातुओं को रस के विविध उपयोगी द्रव्य एवं उसकी विशेषताएँ प्राप्त होना स्वाभाविक है। ओज में जो कि शुक्र पर्यन्त सब धातुओं का सार है रस की यह विशेषता रोग निरोधक शक्ति या रोग क्षमता भी संक्रान्त होती है बल्कि यह कहें कि रस की नहीं अपितु रसाश्रित श्लेष्मा की यह असाधारण क्षमता शक्ति ओज में संक्रान्त होती है। इसी को ओज का बल या श्लेष्मा का बल कहते हैं।

संक्षेप में प्राकृत श्लेष्मा के एक धातु सार रूप वीर्यवान् स्निग्ध सूक्ष्म प्रकार के द्रव्य को ओज कहते हैं, यह ओज "बल" को जन्म देता है, बल के ही रूप शरीर में रोग निग्रह की क्षमता और इन्द्रिय सामर्थ्य आदि है। यह प्राकृत श्लेष्मा का 'बलकर्म' आगे दिये गये प्राकृत श्लेष्मा के कर्मों का सिंहावलोकन करने पर ज्ञात होता है कि उदक कर्म, उपचय कर्म, और बलकर्म ये तीन कर्म देह धारक

श्लेष्मा के प्रधान कर्म हैं इन्हीं के परिणामस्वरूप स्नेह संधिबन्धन, स्थिरता, गुरुता, वृषता, क्षमता, सहिष्णुता, धैर्य, बुद्धि, अपरिग्रह, अलोभ आदि शरीरिक मानसिक विशेषताएँ मनुष्य को प्राप्त होती हैं।

### प्राकृत कफ के स्थान

उरः शिरोग्रीवा पर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्म स्थानानि तत्रापि उरो विशेषेण श्लेष्म स्थानम्। (च.सू. 20/8)

उरः स्थल या छाती, सिर, ग्रीवा अर्थात् मुख-कण्ठ पर्व स्थान या संधि स्थल, आमाशय का उपरिभाग, मेद ये श्लेष्मा के स्थान हैं। इनमें भी उरःस्थल विशेष रूप से श्लेष्मा का स्थान है।

तत्र समासेन..... आमाशयः श्लेष्मणः। (सु.सू. 21/6)

संक्षेप में आमाशय श्लेष्मा का स्थान है।

श्लेष्मणः उरः शिरः कण्ठो जिह्वामूलं सन्ध्य इति पूर्वोक्तं च एतानि खलु दोषोणां स्थानान्यव्यापन्नानाम्। (सु.सू. 21/7)

प्राकृत श्लेष्मा के ये स्थान हैं - उरः स्थल, शिर, कण्ठ, जिह्वामूल, संधियों और पूर्वोक्त (आमाशय)।

मेदःशिर उरोग्रीवा संधिर्बाहुः कफाश्रयः।  
हृदयं तु विशेषेणः स्थानमुच्यते।। (का.स.सू. 27)

अर्थात् मेद, शिर, उरः स्थल, ग्रीवा, संधि, बाहु ये कफ के आश्रय स्थल हैं, इनमें भी हृदय को श्लेष्मा का विशेष स्थान कहा जाता है।

उरः कण्ठ शिरः क्लोम पर्वाण्यामाशयो रसो मेदो घ्राणं रसनं च श्लेष्म स्थानानि, अत्राप्युरो विशेषेण। (अ. सं. सू. 20)

प्राकृत श्लेष्मा के स्थान उरः स्थल, कण्ठ, शिर, क्लोम अर्थात् गले की नली या अन्न प्रणाली, संधियों, आमाशय, रस, मेद, नासिका और जिह्वा है। इनमें भी उरः स्थल विशेष रूप से श्लेष्मा का स्थान है।

कफश्चामाशये मूर्ध्नि कण्ठे हृदि च संधिषु।  
तिष्ठन् करोति देहस्य स्थैर्यं सर्वांगपाटवम्।। (शा. पू. 5/53)

प्राकृत कफ, आमाशय, शिरोदेश, कण्ठ, हृदय और संधियों में रहता हुआ देह को स्थिरता प्रदान करता है और इसके सम्पूर्ण अवयवों को कार्यक्षम बनाता है।

प्राकृत वात और पित्त के समान प्राकृत श्लेष्मा भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। परन्तु जिन अवयवों या क्षेत्रों में श्लैष्मिक स्राव स्पष्ट और प्रचुर मात्रा में परिष्कृत होते हैं तथा श्लेष्मा कर्म विशेष रूप से सम्पन्न होते हुए देखे जाते हैं उनकी श्लेष्म स्थानों में गणना कर दी गयी है। श्लेष्मा के निम्नलिखित स्थानों का उल्लेख है - शिर, जिह्वामूल, आमाशय, उरःस्थल, पर्व या संधियाँ, ग्रीवा, कण्ठ, क्लोम, नासिका, रस, मेद। काश्यप ने हृदय तथा बाहु को भी कफ का स्थान कहा है और हृदय को विशेष रूप से श्लेष्मा का स्थान बतलाया है।

इन स्थानों में से सिर, जिह्वामूल, आमाशय, उरः स्थल और संधियों में क्रमशः मस्तिष्क तर्पण, रस बोधन, आहार क्लेदन, हृदयावलम्बन और संधि संश्लेषण के रूप में जो-जो श्लेष्म कर्म सम्पन्न होते रहते हैं, उनके आधार पर इस स्थानों के श्लेष्मा को पाँच अलग-अलग नाम आगे दिये गये हैं। पूर्वोक्त पाँचों स्थानों में धातुरूप श्लेष्मा के उपर्युक्त कार्य नित्य प्रति सम्पन्न होते रहते हैं। ग्रीवा शब्द का प्रयोग चरक और काश्यप ने किया है। ग्रीवा से ग्रीवा में स्थित कण्ठ और क्लोम का अभिप्राय है क्योंकि कण्ठ और क्लोम शब्दों का प्रयोग उक्त दोनों संहिताकारों ने नहीं किया केवल ग्रीवा ही लिखा है। कण्ठ श्वास-नलिका के उपरीभाग में क्लोम या गल, अन्न प्रणाली के उपरीभाग में स्थित है। इन दोनों स्थानों में श्लेष्मा का स्नेहन कर्म प्रतिक्षण होता रहता है और श्लेष्म विकृति की दशा में भी फुफुस व आमाशय का दुषित कफ कण्ठ और गले में विशेष रूप से प्रकट होता है। नासिका के श्लेष्म स्थानों में गणना का हेतु भी प्रायः वही है, यहाँ भी श्लेष्मा का स्नेहन और अतिस्राव होता है। श्लेष्मा क्षय जनित रूक्षता और श्लेष्मा कोप जन्य श्लैष्मिक स्रावों की प्रचूरता ये दोनों ही नासिका में समय पर प्रकट होती रहती है। रस और मेद ये दोनों धातुएँ श्लेष्मा के मुख्य आश्रय हैं अतः इनकी गणना स्वभाविक है।

हृदय का श्लेष्म स्थानों में उल्लेख करने के दो कारण हैं प्रथम यह कि श्लेष्मा के उत्कृष्ट रूप 'ओज' को हृदयाश्रित माना गया है इस प्रकार हृदय स्वतः प्राकृत श्लेष्मा का आवास स्थल है दूसरा कारण यह है कि तमोगुणमुलक श्लेष्मा का हृदय पर प्रतिक्षण प्रभाव पड़ता है इसके कारण मनुष्य के स्वभाव में मानसिक अचांचल्य या स्थिरता आदि गुण प्रकट होते हैं। बाहु को काश्यप ने श्लेष्मा का स्थान लिखा है। बाहु में बल के अधारीय द्रव्य के रूप में श्लेष्मा समाविष्ट रहता है।

उपर्युक्त सब स्थानों में से उरः स्थल और आमाशय को श्लेष्मा का प्रधान स्थान कहा गया है। उरः स्थल या छाती के भीतर स्थित फुफुस, फफुसावरण, हृदय, हृदयावरण, श्वास प्रणाली, अन्न प्रणाली ये सब ऐसे स्थान हैं जिनमें श्लेष्मा का स्नेहन कर्म प्रतिक्षण होता रहता है। यहाँ श्लेष्म वृद्धि भी अतिशीघ्र प्रकट होती है। आमाशय में श्लेष्मा से अन्न क्लेदन प्रतिदिन होता है। यह वैकारिक श्लेष्मा का भी उद्गम स्थल है। यहाँ अथवा अन्यत्र श्लेष्म प्रकोप होने पर जब रोगी को वमन कराया जाता है। तो वामक द्रव्य श्लेष्मा के इस प्रमुख स्रोत आमाशय में से दूषित श्लेष्मा का उल्लेखन करके इसे वहाँ से सुगमता पूर्वक बाहर निकाल देते हैं। वमन हो जाने पर उरः स्थल में से श्लेष्मा का समूल उच्छेद हो जाता है। इस प्रकार उरः स्थल और आमाशय दोनों ही श्लेष्मा के प्रमुख केन्द्र हैं।

संक्षेप में प्राकृत श्लेष्मा के सबसे मुख्य स्थान आमाशय और उरः स्थल हैं, इनके अतिरिक्त शिर, जिह्वामूल, गल, नासिका, कण्ठ, रस, मेद, हृदय, संधिस्थल, भी श्लेष्मा के स्थान हैं। प्राकृत श्लेष्मा के समस्त देहव्यापी होने पर भी इनके जो अनेकानेक स्थान निर्दिष्ट किये गये हैं उसका कारण यह है कि उक्त अपने-अपने स्थानों में इनका प्राकृत रूप अधिक उत्तमता और स्पष्टता के साथ प्रकट होता है।

### प्राकृत कफ के भेद

“अवलम्बक — क्लेदक — बोधक—तर्पक—श्लेषकत्व भेदे श्लेष्मा”

(अ.सू.सू. 20/6)

अवलम्बक, क्लेदक, बोधक, तर्पक, श्लेषक इन भेदों के द्वारा प्राकृत श्लेष्मा पाँच प्रकारों में विभक्त रहता है।

श्लेष्मा पंचधा प्रविभक्त उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति।

(सु. सु. 15/6)

अन्ये तु तस्यैव कफस्य आशय भेदेन पंचधाभिन्नस्य श्लेष्मक क्लेदक, बोधक, तर्पक, अवलम्बकनामान्याऽऽहुः। (उल्लेख टीका)

श्लेष्मा पाँच प्रकार से विभक्त होकर उदक कर्म द्वारा देह को लाभ पहुँचाता है। अन्यों ने आशय भेद से कफ के श्लेष्मक, क्लेदक, बोधक, तर्पक, अवलम्बक ये पाँच भिन्न-भिन्न नाम कहे गये हैं।

क्लेदनः स्नेहनश्चैव रसनश्चावलम्बनः।

श्लेषकश्चेति नामानि कफस्योक्तान्यनुक्रमात्।। (शा. पू. 5/53)

कफ के क्रमशः पाँच नाम हैं आहार का क्लेदन करने वाला शिरोदेश में इन्द्रियों का स्नेहन करने वाला खाद्य पदार्थों के रसों का ज्ञान कराने वाला, हृदय फुफुस त्रिक संधि आदि को अवलम्बन या सहायता प्रदान करने वाला संधियों का संश्लेषण करने वाला है। प्राकृत श्लेष्मा मूलतः एक रूप होते हुए भी विभिन्न स्थानों में आश्रित होकर भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है। इनमें से कुछ मुख्य श्लेष्मक रूपों के अलग-अलग नाम रख लिए गये हैं।

शरीर के भीतर मुख, आमाशय, उरः स्थल, मस्तिष्क, संधिस्थल इन प्रमुख पाँच स्थानों में क्रमशः रस बोधन कर्म, आहार क्लेदन कर्म, हृदयावलम्बन कर्म, इन्द्रिय तर्पण कर्म और संधि संश्लेषण के रूप में श्लेष्मा के पाँच प्रकार के विशिष्ट कार्य देखने में आते हैं। इन स्थानों या आशयों में उक्त कार्यों के अव्यवस्थित हो जाने पर रोग भी विभिन्न प्रकार के जन्म लेते हैं, इन सब कारणों से प्राकृत श्लेष्मा को पाँच प्रकार के नाम दिये गये हैं। अर्थात् स्थानभेद, कार्यभेद, रोगभेद, नामभेद से श्लेष्मा के पाँच प्रकार नाम हैं।

1. बोधक कफ
2. क्लेदक कफ
3. अवलम्बक कफ
4. तर्पक कफ
5. श्लेष्मक कफ

### प्राकृत बोधक कफ

जिह्वामूल कण्ठस्यो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यक् रसज्ञाने वर्तते। (सु. सू. 21/14)

जिह्वा के मूल प्रदेश और कण्ठ भाग में स्थित श्लेष्मा अपने सौम्य गुण के कारण रसेन्द्रिय को सब प्रकार के रसों ज्ञान में प्रवृत्त रखता है।

### रसनास्यः सम्यग् रसबोधनाद् बोधकः। (अ.सं.सू. 20)

जिह्वामूल में स्थित प्राकृत श्लेष्मा, रसों का ठीक-ठीक बोध कराने के कारण बोधक श्लेष्मा कहा जाता है। प्राकृत श्लेष्मा का जो रूप जिह्वामूल और कण्ठ में विद्यमान है तथा जिसके माध्यम से किसी पदार्थ के रस या स्वाद का ज्ञान हो जाता है उसे बोधक श्लेष्मा कहा गया है।

भोजनादि किसी वस्तु के मुख में आने पर उसके स्वाद का ज्ञान, मुख तथा कण्ठ में रहने वाले श्लैष्मिक स्राव या लाला स्राव के माध्यम से होता है। इस स्राव में यह विशेषता है कि यह अधिकांश पदार्थों को अपने में घोल लेता है। इस घुली हुई अवस्था में ही उस पदार्थ के रस का बोध प्रतीति जिह्वा को हो पाती है। रस या स्वाद की प्रतीति, जिह्वा में उभरे हुए स्वादांकुरों को विशेष रूप से हुआ करती है परन्तु ये स्वादांकुर जमेजम इनकद्ध रस का ग्रहण तभी कर पाते हैं जब मुख में रहने वाला उक्त श्लैष्मिक स्राव या रस बोधक श्लेष्मा किसी द्रव्य को घोल कर इन स्वादांकुरों तक पहुँचता है।

श्लैष्मिक स्राव या लाला रस, स्वादांकुरों के निकटवर्ती भागों में स्थित श्लेष्म ग्रन्थियों से परिश्रुत हुआ करता है और मुख-जिह्वा-जिह्वामूल-कण्ठ के प्रायः सभी भागों को प्रलिप्त रखता है। लालारस जब किसी आस्वाद्य पदार्थ को घोल लेता है तब मधुर और लवण रसों की प्रतीति स्वादांकुरों द्वारा जिह्वा के अग्रभाग पर, तिक्त रस की पीछे के भाग अर्थात् जिह्वा मूल पर और अम्ल रस की जिह्वा के पश्चो पर होती है। कटु रस एवं कषाय रसों की प्रतीति जिह्वा के अतिरिक्त मुख और कण्ठ में भी हुआ करती है। पदार्थों के रसों का ज्ञान करना यह यद्यपि वात का धर्म है और यह कार्य यद्यपि यहाँ पर स्थित नवम शीर्षण्य नाडी के सुत्रों में प्रवाहित 'प्राणवायु' के द्वारा होता है फिर भी उपर्युक्त श्लैष्मिक स्राव रस प्रतीति में अनिवार्य माध्यम होने के कारण अपना विशिष्ट और पृथक महत्व रखता है इसी से इसे एक पृथक नाम दिया गया है। सुश्रुत ने अपने वाक्य में इस श्लेष्मा के स्थान या क्षेत्र का निर्देश किया है और कहा है कि जिह्वा या रसना सौम्य इन्द्रिय है। अतः सोमगुण प्रधान रस का ठीक ज्ञान कराने में मुख्यतः यही प्रवृत्त होती है। उक्त श्लेष्मा स्राव या लाला स्राव के संबंध में यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इसके भीतर विद्यमान एक अग्नि द्रव्य जो कि पिष्ट द्रव्यों के पाचन का कार्य करता है पैतिक रसों की कोटि में आता है शेष जो अंग जल बहुल और पिच्छिल होता है वही रस बोधन कर्म का माध्यम बनता है अतः वही बोधक श्लेष्मा कहलाता है। संक्षेप में मुख जिह्वा कण्ठ तक के भाग को प्रतिपत्त किये रखने वाले जिह्वामूलीय श्लेष्म स्राव का वह भाग बोधक श्लेष्मा कहा गया है जो खाद्य पेय आदि पदार्थों को अपने में घोलकर कटु आदि सब रसों की प्रतीति कराने में कारण बनता है।

### प्राकृत क्लेदक कफ

माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्चप्रक्लेदित्वात्तथैव च ।  
आमाशये संभवति श्लेष्मा मधुर शीतलः ।।  
स तत्रस्थ एव स्वशक्तया शेषाणां श्लेष्मस्थानां ।  
शरीरस्य चोदककर्मणाऽनुग्रहं करोति ।। (सु.सू. 21/14)

आहार द्रव्यों में रहने वाली मधुरता आर्द्रता द्रवता स्निग्धता आदि के कारण आमाशय में कफ भी मधुर शीतल उत्पन्न होता है। यह क्लेदक श्लेष्मा आमाशय में रहता हुआ ही अपने प्रभाव से श्लेष्मा के अन्य स्थानों को तथा सम्पूर्ण शरीर को उदक कर्म के द्वारा अनुग्रहीत करता है।

आमाशय स्थितोऽन्नसंघातस्य क्लेदनात् क्लेदकः ।  
(अ.सं.सू. 20/6)

जो प्राकृत श्लेष्मा आमाशय में स्थित है, वह आमाशय में पहुँचे हुए अन्न समूह का क्लेदन कर्म करने के कारण क्लेदक कहलाता है।

.....यस्त्वामाशय संस्थितः ।  
क्लेदकःसोऽन्नसंघातक्लेदनात्..... । (अ. ह. सू.  
12/16)

प्राकृत श्लेष्मा का जो रूप आमाशय में रहता है, वह अन्न समूह का क्लेदन करने के कारण क्लेदक कहलाता है। देह व्यापी श्लेष्मा का जो रूप आमाशय के उर्ध्व भाग में उपलब्ध होता है और जिसके साथ मिलकर आमाशय के युक्त पदार्थ गीले, ढीले और मुलायम पड़ जाते हैं, उसके क्लेदक कफ नाम दिया गया है। जिस प्रकार हमारे शरीर में मुख-श्वास प्रणाली मस्तिष्क तन्त्र आदि अवयवों में श्लैष्मिक स्राव उत्पन्न हुआ करते हैं, उसी प्रकार आमाशय में फैली हुई श्लेष्म कला से भी एक विशेष प्रकार का श्लैष्मिक स्राव प्रकट होता है। यह अन्न प्रणाली और आमाशय के

उर्ध्व भाग की श्लेष्मा कला में से अधिक निकलता है। यह स्राव पारदर्शक और लसेदार होता है। भोजनगत मधुर अम्ल लवण आदि भिन्न भिन्न रसों से युक्त शीत स्निग्ध लसेदार रसीले पदार्थों का मुख के श्लेष्म रस तथा आमाशय के क्लेदक कफ के साथ सम्मिश्रण हो जाने पर एक ऐसा मधुर विपाकी फेनिल रूप प्रस्तुत हो जाता है कि इसके अन्दर कफ का प्रादुर्भाव होता है। अंतिम पाक के उपरांत पोषक रस स्थायी रस में परिणत होने लगता है तब उस समय यही फेनभूत कफ धातु का रूप ग्रहण करता है। मुख में आकर भुक्त द्रव्य का चबाये जाने और स्थानीय आग्नेय रस द्वारा किंचित रूप परिवर्तित होने के कारण प्रथम पाक (अवस्था पाक) हुआ करता है। यदि भोजन अम्ल लवण मधुर रस बहुल हो या षड्रस युक्त हो तो भी यह प्रथम पाक प्रायः मधुर ही होता है। यह मधुर पाकी द्रव्य आमाशय में पहुँचकर क्लेदक कफ के साथ मिश्रित होता है। मुख और आमाशय के समान गुण कर्म कफ के मधुर शीत, पिच्छिल, स्निग्ध, द्रवरूप होने से लगभग 1) घंटा से दो घंटा तक आमाशय में उक्त श्लैष्मिक स्राव की प्रचुरता रहती है। इस क्लेदक कफ का देहव्यापी प्रभाव देखने में आता है क्योंकि इसी समय अन्य स्थानों के श्लैष्मिक स्राव भी शुरू हो जाते हैं। केन्द्रीय श्लेष्म कोष की वृद्धि का इसके उपकोशों पर प्रभाव पड़ना स्वभाविक ही है। इसके क्लेदक श्लेष्मा का अन्य श्लेष्म स्थानों पर अनुग्रह कर्म कहा गया है। इस प्रकार आमाशय में फैली हुई श्लेष्म ग्रन्थियों से एक विशेष प्रकार का श्लैष्मिक स्राव उत्पन्न होता है। यह स्राव पारदर्शक और लसेदार होता है, इसे आयुर्वेद का क्लेदक कफ कह सकते हैं।

### अवलम्बक कफ

उरः स्थस्त्रिक संधारण आत्मवीर्येणान्नरससहितेन  
हृदयावलम्बनं करोति । (स.सू.अ. 21/14)

वक्ष स्थल में स्थित श्लेष्मा त्रिक को संभाले रहता है और अन्न रस के साथ मिलकर अपनी शक्ति से हृदय को सहारा देता है।

सतुरःस्थः स्ववीर्येण त्रिकस्यान्नवीर्येण च सह हृदयस्य  
शेषाणां चश्लेष्म स्थानानं तत्रस्थ  
एवोदककर्मणाऽवलम्बनादवलम्बक इत्युच्यते । (अ.सं.सू.अ.  
20/6)

उरः स्थल में स्थित प्राकृत श्लेष्मा अपनी शक्ति से बाहु संधि ग्रीवा का, अन्न शक्ति सहित अपनी शक्ति से हृदय का और वहाँ रहता हुआ ही उदक कर्म द्वारा अन्य श्लेष्म स्थानों का अवलम्बन करने के कारण 'अवलम्बक' कहलाता है। यह अवलम्बक श्लेष्मा, हृदय को सहारा देने में अन्न की बल की अपेक्षा करता है। अर्थात् अन्न की न्यूनता होते ही हृदय को संभालने में यह समर्थ नहीं रहता है।

“.....उरःस्थः स त्रिकस्य स्ववीर्यतः ।  
हृदयस्यान्नवीर्याच्च तत्स्थ एवाम्बुकर्मणा ।।  
कफ धाम्नां च शेषाणां यत्करोव्यलम्बनम् ।  
अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा..... ।। (अ.ह.सू.  
12/15)

उरः स्थल में स्थित अपनी शक्ति से त्रिक को और अन्न की शक्ति से युक्त अपनी शक्ति से हृदय को सहारा देता है। यह उस स्थान पर रहता हुआ ही उदक कर्म करता है, क्योंकि शेष कफ स्थानों का भी अवलम्बन करता है अतः अवलम्बक श्लेष्मा कहलाता है।

### प्राकृत तर्पक कफ

शिरस्थः स्नेह-संतर्पणाधिकृतत्वादिन्द्रियाणामात्यवीर्येणानुग्रहं  
करोति ।  
(सु.सू.स. 21/14)

शिरो प्रदेश में स्थित श्लेष्मा, स्नेहन और पोषण कर्म के लिये उत्तरदायी होने के कारण अपने प्रभाव से इन्द्रियों को अपने-अपने कार्य में सामर्थ्य प्रदान करता है।

शिरः स्थश्चक्षुरादिन्द्रिय तर्पणात् तर्पकः। (अ.सं.सू. 20/6)

शिरो देश में स्थित श्लेष्मा, इन्द्रियों का पोषण करने के कारण तर्पक श्लेष्मा है।

### प्राकृत श्लेष्मक कफ

संधिस्थस्तु श्लेष्मा सर्वसंधिसंश्लेषात् सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति।

(सु.सू. 21/14)

संधिगत श्लेष्मा, समस्त संधियों का संश्लेषण करने के कारण सभी संधियों पर अनुग्रह करता है।

पर्वस्थोऽस्थि संधि संश्लेषणात्श्लेषक इति। (अ.सं.सू. 20/6)

पर्व स्थलों में रहने वाला श्लेष्मा, अस्थियों में चिकनाहट लाने के कारण श्लेष्मक कहलाता है।

संधि संश्लेषात् श्लेषकः संधिपुरिष्ठतः। (अ.ह.सू. 12/17)

संधिस्थलों में विद्यमान श्लेष्मा, संधियों को चिकना करते रहने से श्लेषक श्लेष्मा कहलाता है।

अस्थि संधियों में संश्लेषण कर्म विशेष रूप से लक्षित भी होता है। इनमें दो अस्थियों के प्रान्त भागों पर "श्लेष्मधारा कला" आवृत्त रहती है जिसे लदवअपवस उमउत्तंदम कहते हैं, इसमें से पिच्छिल द्रव लदवअपवस सिनपकद्ध के रूप में श्लेषक कफ परिश्रुत होता रहता है। इसी प्रकार का पिच्छिल द्रव या श्लैष्मिक स्राव अस्थि संधियों के मध्य में स्थित एक विशेष प्रकार की थैलियों में भी भरा रहता है, जो अस्थियों की टक्कर के समय संघर्षण से बचाने वाले रक्षा कोश का काम करता है।

संक्षेप में श्लेषक कफ प्राकृत श्लेष्मा का वह रूप है जो दो या अधिक छोटे-बड़े देहावयवों को परस्पर संयुक्त रखकर उनके स्थूल या सूक्ष्म संधि स्थलों में स्नेहन बनाये रखे। जिस प्रकार गाड़ी के पहिए की धुरी को तेल लगाते रहने से पहिया सुगमता से घूमता रहता है, उसी प्रकार इस श्लेषक कफ से स्नेहन होते रहने पर शरीर संधियां ठीक-ठीक गति करती है। इसके प्रभाव से अस्थियां वर्षों तक घिसने भी नहीं पाती है। शरीर की असंख्य सूक्ष्म संधियों की अपेक्षा स्थूल संधियों में श्लेषक कफ का यह संश्लेषण कर्म अधिक स्पष्ट रूप में लक्षित होता है।

### तर्पक कफ परिचय

आयुर्वेदिय शरीर में दोषों के महत्व तथा उनके विस्तृत ज्ञान तथा उनको आधुनिक परिस्थित में जानने के लिए उनके भेदों तथा उपभेदों, स्थान, गुण, कर्म के परिज्ञान की अत्यंत आवश्यकता होती है। पहले के अध्यायों में कफ परिचय के वर्णन में कफ के भेदों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। जिनमें कफ के पांचों भेदों में से एक भेद तर्पक कफ है, यद्यपि भेदों का नाम यथा कर्म तथा नाम है जिसके अनुसार तर्पक कफ नाम भी कर्म के अनुसार पड़ा है क्योंकि यह सिर में रहकर मस्तिष्क एवं ज्ञानेन्द्रियों का तर्पण करता है, इसलिए इसे तर्पक कफ कहते हैं।

यदि इसके इतिहास को देखा जाए तो यह प्रतीत होता है कि आचार्य सुश्रुत ने मात्र इसका संकेत दिया है किन्तु आचार्य वाग्भट ने इसका नामकरण किया है जो कि पाश्चात् के ग्रंथों में भी इसका

नाम आता है। यद्यपि आयुर्वेदिय संहिताओं में संक्षिप्त में तर्पक के स्थान, कर्म आदि का वर्णन मिलता है फिर भी आधुनिक परिवेश में तर्पक कफ क्या हो सकता है यह जानना ही अध्येता का मुख्य उद्देश्य है तथा इसको जानने के लिए सम्पूर्ण कफ संबंधी साहित्यों का अध्ययन एवं चिन्तन, साथ ही आधुनिक मतानुसार कफ संबंधी प्रकृति एवं विकृतियों का भी चिन्तन एवं मनन करके जितना हो सके उतना समन्वय करके तर्क-वितर्क से पुष्टीकर तर्पक कफ का परिचय प्राप्त किया जाएगा।

इस प्रकार आयुर्वेदिय तर्पक कफ आधुनिक मतानुसार तर्पक कफ क्या हो सकता है इसका भी अध्ययन किया जाएगा।

आचार्य सुश्रुत ने तर्पक कफ का परिचय नामतः न देकर स्थान और कर्मतः वर्णन किया है जो निम्न प्रकार से है:-

स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणां स्थानानां शरीरस्यचोदक कर्मणानुग्रहं करोति। उरः स्थत्रिक

संधारणमात्मवीर्येणान्नरस सहितेन हृदयावलम्बनं करोति। जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यक् रसज्ञाने वर्तते। शिरःस्थः स्नेह संतर्पणाधिकृत्वादिन्द्रियाणामात्म वीर्येणानुग्रहं करोति। संधिस्थस्तु श्लेष्मा सर्वसंधि संश्लेषात् सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति। (सु. सू. 21/14)

आमाशय में स्थित रहने वाला कफ, कफ के अन्य स्थानों को तथा समस्त शरीर को अपने प्रभाव से उदक कर्म द्वारा अनुग्रहित करता है। वक्षस्थल में स्थित हुआ कफ अपने कार्य से त्रिक स्थान को धारण करता है, और अन्न रस के साथ मिलकर हृदय को अपने कार्य करने में सामर्थ्यता प्रदान करता है, जिह्वा के मूल स्थान कण्ठ में स्थित हुआ कफ अपनी साम्यता से जिह्वेन्द्रिय को सब प्रकार से रसों के ज्ञान में प्रवृत्त करता है, इसी प्रकार सिर में स्थित रहने वाला तर्पक कफ तैलादि संतर्पण का अधिकारी होने के कारण अपने प्रभाव से ज्ञानेन्द्रियों को अपने कार्य क्षेत्र में सामर्थ्यता प्रदान करता है, संधिगत कफ समस्त संधियों का श्लेषण करने के कारण सर्वसंधियों का अनुग्रह करता है।

### आचार्य चरक ने तर्पक कफ का स्थान बताया है।

शिरः करोटि में मस्तिष्क धम्मिल्लक तथा सुषुम्नाशीर्षक आदि अवयव रहते हैं। ये अवयव भी अपनी दोहरी कलाओं के द्वारा परिव्याप्त रहती है। इन कलाओं के मध्य में कफ भरा रहता है जो स्नेहन का कार्य एवं पोषण का कार्य करता है। इसलिए सिर को कफ का स्थान माना गया है। ये तर्पक कफ सिर में रहने के कारण क्षमा, घृति एवं बुद्धि को धारण एवं निर्लोभता करता है। ये कफ के अविकृत कार्य हैं।

स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्।

क्षमाधृतिरलोभश्च कफ कर्माविकारजम्॥

(चरक सू. - 18/51)

अर्थात् स्नेह शरीर के विभिन्न स्थानों में सिग्धता उत्पन्न करता है, संधियों को परस्पर सुसम्बद्ध रखता है। शरीर एवं मन को दृढ़ बनाना तथा स्थिरता प्रदान करता है। शरीर एवं मन को क्रमशः उचित गुरुता तथा गाम्भीर्यता प्रदान करता है, उत्पादक अंगों को बलिष्ठ रखना तथा रति की स्वभाविक प्रवृत्ति बनाये रखता है। शरीर और मन तथा इन्द्रियों में सामर्थ्य एवं रोग निग्रह शक्ति उत्पन्न करता है। सहनशीलता और कष्टसहिष्णुता उत्पन्न करना, मन को स्थिरता प्रदान करना, लोभ हीनता उत्पन्न करना ये सब श्लेष्मा के प्राकृत स्वभाविक कार्य हैं। शरीर में प्रतिक्षण जो अपक्षय होता है उसकी पूर्ति करना। शरीर को तृप्त रखना, शेष कफ स्थानों का पोषण करना। कफ की मात्रा आचार्य चरकानुसार छः अंजली बताया है।



## धी-धृति स्मृति

ये तीनों ही बौद्धिक अवस्थाएँ हैं जिसका उल्लेख संहिता ग्रन्थों में प्रायः एक साथ किया जाता है। अतः इनमें परस्पर निकट का संबंध है। पढ़कर या सीखकर प्राप्त की हुई विद्या को 'धी' कहा जा सकता है अतः यह अर्जित की हुई ज्ञान है, शिक्षण के द्वारा सुषुप्त बुद्धि को जागृत करना ही 'धी' कहलाता है। इसलिए 'धी महि धियो' गायत्री मंत्र का उच्चारण कर 'धी' रूपी बुद्धि की याचना कामना की जाती है। केन्द्रिय तंत्रिका संस्थान में विचार-ध्यान तर्क आदि का एक क्रम चलता है, जो धी की पूर्व की अवस्थाएँ हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गलतियों से भी सीख ग्रहण करता है। विचार ध्यान की प्रक्रिया को परिभाषित करना अत्यंत ही कठिन है। शरीर क्रिया की दृष्टि से मस्तिष्क में भूतकाल तथा वर्तमान काल में संचित सूचनाओं का विवेक ही विचार या ध्यान कहलाता है। इन विचारों को पुनः याद करने का नाम ही स्मृति ;उमउवतलद्ध है। यह स्मृति दो प्रकार की होती है (1) अल्पकालिक स्मृति तथा (2) दीर्घकालिक स्मृति। अल्पकालिक स्मृति पुनः दो प्रकार की है ;द्ध क्षणिक स्मृति तथा ;द्ध अल्पावधि स्मृति। जब कोई व्यक्ति कार या बस के द्वारा यात्रा करता है तो मार्ग के दोनों ओर विद्यमान विविध प्रकार कि वस्तुओं को देखता है जिसकी यादगार मात्र कुछ क्षण की मस्तिष्क में संचित रहती है इसे क्षणिक स्मृति कहते हैं। कुछ घटनाओं की स्मृति जब कुछ घण्टे या दिनों तक मस्तिष्क पटल पर अंकित रहती है तो इसे अल्पावधि स्मृति कहते हैं जो बाद में भूल जाती है। शिक्षा, संस्कार या विशिष्ट घटनाओं का चित्रण स्थायी रूप से जब मस्तिष्क की तंत्रिका-कोशिकाओं में संग्रहित होकर स्थायी हो जाता है तो इसे दीर्घकालिक स्मृति कहते हैं। सम्भवतः यह दीर्घकालिक स्थायी स्मृति ही 'धृति' अर्थात् ज्ञान धारण करने की शक्ति है। आयुर्वेद शरीर वेदों ने पित्त प्रकृति वाले पुरुषों में धी-धृति-स्मृति-ज्ञान-विज्ञान आदि श्रेष्ठ एवं उत्तम गुणों के साथ विद्यमान रहते हैं। अतः वे मेधावी तथा निपुण गुण होते हैं। इसका कारण उनमें ज्ञानबीज रूपी सत्व गुण की अधिकता का होना है। रजोगुणों की उत्कटता होने पर वातप्रकृति पुरुषों में शीघ्र विस्मृति, स्मृतिनाश तथा बुद्धि की अस्थिरता देखने को मिलती है। जबकि कफ प्रकृति पुरुष गम्भीर बुद्धि वाले होते हैं। विभिन्न व्यक्तियों की धी-धृति स्मृति में विभेद का कारण वातादि दोषों की उल्वणता या उत्कटता है पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने धी-धृति-स्मृति आदि बौद्धिक प्रक्रिया संबंधी क्षेत्रों में चेतक ;जैसंउनेद्ध तथा प्रमस्तिष्क प्रान्तस्था ;भतमइतंस ब्वतजमगद्ध को प्रमुख माना है। इनमें भी सम्भवतः चेतक का कार्य अपुष्ट या अपक्व विचारों की उत्पत्ति करना, जबकि प्रमस्तिष्क प्रान्तस्था का संबंधित क्षेत्र में उत्तम गुणों एवं स्थायी बौद्धिक विचारों को उत्पन्न करते हैं।

### शिरः संस्थोऽक्षतर्पणात् तर्पकः। (अ. ह. सू. 12/17)

शिरो प्रदेश में स्थित श्लेष्मा इन्द्रियों का पोषण करने के कारण तर्पक श्लेष्मा है। प्राकृत श्लेष्मा का जो अंश शिरो भाग में उर्ध्व जत्रु में संचार करता है और जिससे मस्तिष्क एवं आँख-कान आदि ज्ञानेन्द्रियों का स्नेहन पोषण होता है, वह तर्पक कफ कहलाता है। शरीर में हृदय, फुफुस आदि अवयवों के सदृश मस्तिष्क और सुषुम्ना भी श्लैष्मिक द्रव से भरा रहता है। यह द्रव रस रक्त में से वहाँ परिस्सृत होकर अन्दर ही अन्दर आचूषित होता रहता है। उक्त द्रव के लिए मस्तिष्क स्नेह या मस्तिष्क द्रव नाम दिये गये हैं। यह मस्तिष्क की चारों गुहाओं में मस्तुलंग के चतुर्थिक तथा सुषुम्ना में भी भरा रहता है। इस मस्तिष्क द्रव के अनेक कार्य हैं। प्रथमतः तो यह बाहर से होने वाले आघात-प्रतिघातों को प्रायः अपने ऊपर ले लेता है। और मस्तिष्क पर किसी भी प्रकार की हानि नहीं होने देता है। सुषुम्ना तथा मस्तिष्क में संचारित होने वाला विषों को यह स्वयं आचूषित करता हुआ उन्हें विष के प्रभावों से बचाये रखता है। इसके अतिरिक्त यह द्रव स्नायु मण्डल को तथा स्वयं मस्तिष्क को स्निग्ध बनाये रखने के साथ-साथ पोषक अंश भी प्रदान करता है। इस पोषक कार्य के कारण आचार्यों ने इसे 'तर्पक' शब्द से कहा

है। यह द्रव मस्तिष्क में आद्रता को बनाये रखता है। इसलिए इसे स्नेहन भी नाम दिया गया है।

उपरोक्त मस्तिष्क द्रव के अतिरिक्त शिरोदेश में स्थित नासिका-नेत्र जिह्वा, मध्यकर्ण की श्लेष्मा कलाओं से भी श्लैष्मिक स्राव निकलते रहते हैं। ये सभी स्राव इन इन्द्रियों को स्नेहन करने के साथ-साथ रोगोत्पादक सूक्ष्म कृमियों से भी इनकी रक्षा करते हैं।

मस्तिष्क द्रव तथा इन्द्रियों के श्लैष्मिक स्राव ये सभी सम्मिलित रूप से 'तर्पक कफ' के नाम से अभिहित है। इनमें से किसी एक को ही तर्पक श्लेष्मा कहना संगत नहीं जान पड़ता है, क्योंकि किसी भी अकेले स्राव में यह क्षमता नहीं की वह एकाकी शिरोगुहा में स्थित मस्तिष्क एवं ज्ञानेन्द्रियों का स्नेहन और पोषण कर सकें।

शिरो प्रदेश की दिशा में जाने वाला रंजित रस या रक्त जब वहाँ की कोशिकाओं में पहुंचता है तब उनकी सुषिर भित्तियों में छन-छन कर रसांश बाहर निकलता है। यह रस मस्तिष्क स्रावों का रूप ग्रहण करता रहता है। यह रस उक्त विविध स्राव तर्पक श्लेष्मा नाम से अभिहित है। चरक ने धातु रूप श्लेष्मा के कार्य ज्ञान धृति-क्षमा अलोभ विवेक आदि कहते हैं। ये तर्पक कफ के ज्ञात होते हैं।

तर्पक कफ देहव्यापी प्राकृत श्लेष्मा का वह रूप है जो मस्तिष्क, नेत्र, नासिका, कान और जिह्वा को पोषक अंश प्रदान करता है। इनका स्नेहन करता रहता है। और इन सबको अपने-अपने स्वभाविक कार्यों के करने में सामर्थ्यता प्रदान करते हैं।

शिरः स्थश्चक्षुरादिन्द्रिय तर्पणात् तर्पकः। (अ. सं. सू. 20/6)

शिरो प्रदेश में रहने वाला श्लेष्मा नेत्रादि इन्द्रियों का संतर्पण करता है। इसलिए इसे तर्पक कफ कहा गया है।

सोम एवं शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुमानि करोतिः तद्यता दादृयं शैथिल्यमुपचयं काशर्यमुत्साहमालस्यं वृषतां क्लीबतां ज्ञानमज्ञानं बुद्धि मोहमित्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति। (च. सू. 12/12)

आचार्य काप्य ऋषि ने सम्भवतः इसी के संबंध में यह कहा है कि अकुपित श्लेष्मा दृढ़ता, उपचय, उत्साह, वृषता, ज्ञान, बुद्धि, क्षमा आदि भावों को उत्पन्न करता है। और कुपित श्लेष्मा शैथिल्य, काशर्य क्लीबता, मोह आदि विपरीत भावों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार तर्पक कफ की विकृति से ही मोहज्वर ;डमदपदहपजपेद्ध नामक रोग उत्पन्न होती है। इस तर्पक कफ के द्वारा सभी इन्द्रियों को तर्पण करता रहता है।

संज्ञावातवहस्रोतो मूले मूर्धन्यवस्थितः।

शीत स्वभाववादक्षाणां तर्पकस्तर्पकोमतः।।

(शरीर तत्त्वदर्शन 2/44)

संज्ञा स्रोतसों के जो ज्ञानेन्द्रियों से अनुबद्ध रहते हैं तथा वातवहस्रोतसों के अर्थात् प्राणवायु का वहन करने वाले स्रोतसों के उद्गम स्थान में मस्तिष्क में तर्पक कफ रहता है। अपने शीत स्वभाव से ज्ञानेन्द्रियों का तर्पण और प्रीणन करता है। संज्ञावह स्रोतस् का मूल मस्तिष्क के शीतत्व के कारण प्रीणन क्रिया से इन्द्रियों में प्रसाद उत्पन्न करने वाले को तर्पक कफ कहते हैं।

मस्तुलुंग अर्धविलीनघृताकारो मस्तकमज्जा।

उल्हन की टीका (सु.सू.23/12)

तर्पक कफ मस्तिष्क को स्नेहन प्रदान करता है। मस्तिष्क कोशिकाओं का निर्माण तथा पोषण करता है। यदि तर्पक कफ के इस स्नेहन तथा पोषण कार्य में विकृति आ जाती है, तो मन तथा शरीर की ज्ञानेन्द्रियों पर उसका सबसे पहले प्रभाव पड़ता है।

### विमर्श एवं निष्कर्ष

शोध प्रबंध के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए साहित्यिक अध्ययन एवं विचार विनियम के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि वेदों से लेकर आधुनिक आयुर्वेद ग्रन्थों तक कफ का किसी न किसी रूप में शरीर के चयात्मक क्रिया से संबंधित कार्यों का वर्णन मिलता है जो पहले सूत्र रूप में एवं बिखरे हुए अंशों के रूप में था।

शैः शैः मनन एवं चिन्तन के फलस्वरूप शोध होते गये परिणाम यह निकला की जहाँ चरक संहिता में केवल कफ का नाम एवं कार्य ही वर्णित है वहीं सुश्रुत संहिता में उसे कार्य रूप में पाँच भेदों का वर्णन मिलता है। एवं वाग्भट संहिता में उसी का नाम रूप भेदों एवं कार्य रूप भेदों का वर्णन मिलता है।

कफ शब्द की व्युत्पत्ति, निरुक्ति, पर्याय ऐतिहासिक विवेचन, सैद्धान्तिक विवेचन एवं कफ के प्राकृत कर्मों का एवं कफ दोष के भेदों जैसे बोधक कफ, क्लेदक कफ, अवलम्बक कफ, श्लेष्क कफ एवं तर्पक कफ के स्थान, गुणकर्मों का वर्णन पहल के अध्यायों में किया जा चुका है।

कफ समस्त शरीर में स्थिर रहता है जो कि एक द्रव्य विशेष नहीं बल्कि अनेक द्रव्यों का एक वर्ग है जिसके अन्तर्गत ओज, रस, लसिका बल आदि वे द्रव्य समाहित है जिनका पोषण कफ जन्य गुणों से युक्त आहार विहार से होता है।

शिरः स्थश्चक्षुरादीन्द्रिय तर्पणात् तर्पकः। (अ.सं.सू. 20/6)

तर्पक कफ अष्टांग संग्रह में वर्णित कफ का एक भेद है जिसका स्थान सिर है तथा संहिताओं में तर्पक कफ का स्वतंत्र कर्म सिर में स्थित मस्तिष्क एवं नेत्रादि इन्द्रियों का स्नेहन एवं पोषण करना बताया गया है।

आचार्य चरक के अनुसार कफ के कर्म को देखने पर यह ज्ञात होता है कि क्षमा, धृति, ज्ञान बुद्धि, अलोभ है। मानसिक कर्म है जो कि तर्पक कफ के द्वारा किये जाते हैं।

क्षमा धृतिरलोभश्च कफ कर्माविकारजम। (च.सू. 18/51)

तर्पक कफ भी एक द्रव्य विशेष न होकर कफ सदृश गुण कर्मों वाले द्रव्यों का एक वर्ग है जिसका स्थान सिर बताया गया है सिर में रहने वाल मस्तिष्क, उतंपदद्व, मस्तिष्क सौषुम्निक द्रव (Cerebrospinal fluid), सुषुम्ना काण्ड (Spinal cord) और नेत्रादि इन्द्रियों के कर्म गुण एवं स्वरूप तर्पक कफ से साम्यता रखते हैं जिसे तर्पक कफ वर्ग में माना गया है।

शरीर के विभिन्न अंगों जैसे मस्तिष्क ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियों, अन्तःस्रावी एवं बहिःस्रावी ग्रन्थियों में, हृदय, फुफुस, आमाशय, पक्वाशय, वृक्कों में, मूत्राशय, गर्भाशय, यकृत आदि अंगों में जो भी सूक्ष्म या स्थूल क्रियाएँ होती हैं उन सभी क्रियाओं के पीछे जैव भौतिक सिद्धान्त कार्य करते हैं।

मस्तिष्क एवं सुषुम्ना के तंत्रिका ऊतक पर भीतरी एवं बाहरी दाब को बनाये रखने में भी जैव भौतिक सिद्धान्त जैसे – दाब, जलदाब, प्रसरण, osmotic pressure आदि कार्य करते हैं।

तर्पक कफ (C.S.F.) का निर्माण मस्तिष्क गुहा में पाये जाने वाले रक्त केशिकाओं के द्वारा निर्मित Choroid Plexuses के द्वारा होता है। रक्तकेशिकागत रक्त के निःस्यन्दन (Filtration) के परिणाम स्वरूप यह द्रव स्रावित होता है। निःस्यन्दन की यह क्रिया जैव भौतिक दबाव के साथ-साथ परासरण दाब तथा द्रव दाब पर निर्भर करता है।

प्रसरण विलयन में स्थित धुलनशील द्रव्य कणों की गति के आधार पर निर्भर करता है। प्रत्येक द्रव्य के अन्दर स्थित अणुओं में एक विशेष प्रकार की गति होती है जिसे अणु गति कहते हैं। अणु अपने चारों ओर किसी भी दिशा में गति करने की क्षमता होती है। जब किसी पदार्थ के विलयन के किसी एक भाग में अणुओं की सान्द्रता

अधिक हो और दूसरे भाग में अणुओं की सान्द्रता कम हो तो अधिक सान्द्रता वाले भाग से अणु कम सान्द्रता की तरफ गति करने लगते हैं।

किसी भी प्रकार के द्रव पदार्थ में एक विशेष प्रकार का दाब पाया जाता है जिसके कारण द्रव पदार्थ ऊपर की ओर गति करता है उस दाब को जलदाब (Hydrostatic Pressure) कहते हैं। इसी दाब के कारण (Cerebrospinal Fluid) सुषुम्ना काण्ड से मस्तिष्क की ओर गति करता है या फिर मस्तिष्क से पूरे सुषुम्ना काण्ड में गति करता रहता है।

सुषुम्ना नाडी के द्वारा तर्पक कफ (C.S.F.) का पुनः अवशोषण Osmotic Pressure के पर सिद्धान्त होता है।

आयुर्वेद मतानुसार इस प्रकार की जो भी कार्य शरीर के अन्तर्गत होते हैं वे त्रिदोष सिद्धान्त पर आधारित हैं। जैसे आचार्य सुश्रुत ने कहा है –

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवनोद्यतः।

स्वेदासृक्सावर्णौपि पचधा चेष्टयत्यापि।। (सु.नि. 1/17)

सारे शरीर में भ्रमण करने वाली व्यान वायु रस के संवहन (Circulation) में तत्पर रहती है, तथा स्वेद और रक्त का विस्त्रावण करती है एवं गति अपक्षेपण उत्क्षेपण, निमेष, उन्मेष इन पाचों कर्मों को करती है। इस व्यान वायु के कर्मों से यह प्रतीत होता है कि जो तर्पक कफ सिर में स्थित है उसे गति करने का भी कार्य व्यान वायु ही करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जो आधुनिक विज्ञान में जैव भौतिक क्रिया है वह आयुर्वेद के मतानुसार त्रिदोष सिद्धान्त के व्यान वायु के द्वारा ही सम्पादित हुआ करती है।

मस्तिष्क द्रव का छनना और पुनः शोषित होना (Filtration and Absorbation) बराबर होते रहता है मस्तिष्क द्रव अपने प्राकृत दाब 112 mm रहता है। यदि जब यह दाब 68उउ से नीचे चला जाता है तो पुनः शोषण नहीं हो पाता है जिसके कारण सिर में पानी जमा हो जाता है जिसे Hydrocephalus कहते हैं।

अतमइतवैचपदंस थ्सनपक पार्श्वगुहा में स्थित रहता है जहाँ से यह मोनरो रन्ध्र के द्वारा मध्यमस्तिष्क में स्थित तृतीय गुहा में पहुँचता है। तृतीयगुहा से यह मस्तिष्क कुल्या (Cerebral aqueduct) में रहता हुआ पश्चमस्तिष्क में पाये जाने वाली चतुर्थगुहा में पहुँचता है। चतुर्थगुहा की छिद्र से यह द्रव अवजालतानिका कुण्ड (Sub arachnoid cisternae) में पहुँचता रहता है जहाँ से यह कुण्ड स्थान भेद से अनेक भागों में विभक्त हो जाता है और इस प्रकार यह द्रव अवजालतानिका अवकाश (arachnoid space) में संवहन करता है। चतुर्थगुहा का केन्द्रिय द्वार सुषुम्ना की केन्द्रिय नलिका के साथ सम्बद्ध रहता है जिससे यह द्रव निरंतर सुषुम्ना काण्ड में पहुँचता रहता है। इस द्रव का अधिकांश भाग का अवशोषण Archroid Villi के द्वारा होता है।

केन्द्रिय नाडीतंत्र में धातुपाक या चयापचय क्रिया के परिणामस्वरूप निर्मित होने वाले त्याज्य पदार्थों का संवहन भी इसी द्रव के द्वारा होता है जिससे वे त्याज्य पदार्थ उत्सर्जित होकर बाद में रक्तसंवहन में पहुँचते रहते हैं।

इस प्रकार जो भी गति का कार्य होता है वह आधुनिक के अनुसार जैव भौतिक एव आयुर्वेद के अनुसार व्यान वायु करते हैं।

प्रस्तुत महानिबंध सीमित समय एवं सीमित विषय पर शरीर क्रिया विज्ञान के सन्दर्भ में शरीरान्तर्गत सिर स्थित तर्पक कफ से संबंधित था।

अधेता विनम्र मत से निवेदन करता है कि प्रस्तुत शोध कार्य को अंतिम शोध कार्य न मानकर आगे भी शोध कार्य किया जाना अपेक्षित है। जिससे की अधिकाधिक ज्ञान अर्जित हो सके एवं विज्ञान का विकास हो सके।

**संदर्भ ग्रन्थ सूची**

1. यजुर्वेद भाषा भाष्य सम्पूर्ण, भारतेन्द्रनाथ, दयानंद संस्थान, नई दिल्ली 5
2. सामवेद भाषा भाष्य सम्पूर्ण, भारतेन्द्रनाथ, दयानंद संस्थान, नई दिल्ली 5
3. ऋग्वेद भाषा भाष्य सम्पूर्ण, भारतेन्द्रनाथ, दयानंद संस्थान, नई दिल्ली 5
4. अथर्व वेद भाषा भाष्य सम्पूर्ण, भारतेन्द्रनाथ, दयानंद संस्थान, नई दिल्ली 5
5. अमर कोश पं. श्री अमर सिंह, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, आफिस वाराणसी सन् 1970
6. आयुर्वेदीय विश्वकोश वैद्य श्री राम जीत सिंह, वैद्य हकीम दलजीत सिंह हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग सन् 1969
7. वेदों में आयुर्वेद पं. श्री राम गोपाल शास्त्री, मदन मोहन मालवीय आयुर्वेदिक अनुसंधान ट्रस्ट दिल्ली 1956
8. मनुस्मृति कुल्लुक भट्ट टीका चौखम्भा संस्कृत सीरिज वाराणसी 1970
9. शब्द कल्पद्रुम राधाकान्त देव बहादुर, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, आफिस वाराणसी सन् 1983
10. संस्कृत हिन्दी शब्दकोष वामन शिव राम आपटे, मोती लाल बनारसी दास दिल्ली सन् 1967
11. वाचस्पत्यम् श्री तारा नाथ भट्टाचार्य चौखम्भा संस्कृत सीरिज वाराणसी 1916
12. श्रीमद्भगवत् गीता रहस्य बाल गंगाधर तिलक
13. भेल संहिता हिन्दी टीका आचार्य गिरिराज दयालु
14. सुबोध उपनिषत्संग्रह विष्णु वामन बापट शास्त्री कृत
15. मेदिनी कोश पं. जगन्नाथ शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी 1968
16. चरक संहिता सम्पूर्ण पं. काशीनाथ शास्त्रीय डा. गोरखनाथ चतुर्वेदी, चौखम्भा भारती अकादमी वाराणसी पुनर्मुद्रित 1998
17. सुश्रुत संहिता सम्पूर्ण डा. अम्बिका दत्त शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी संस्करण दशम् वि. स. 2052
18. अष्टौ संग्रह डा. रवि दत्त त्रिपाठी ज्ञान भारती लखनऊ प्रथम संस्करण 1985
19. अष्टौ हृदय डा. रवि दत्त त्रिपाठी ज्ञान भारती लखनऊ प्रथम संस्करण 1985
20. शौ.धर संहिता डा. ब्रह्मानंद त्रिपाठी चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, द्वितीय संस्करण 1994
21. आयुर्वेदीय शरीर क्रिया विज्ञान डा. शिव कुमार गौड, नाथ पुस्तक भण्डार, रोहतक पंचम संस्करण दिसम्बर 1986
22. विज्ञान वैद्य तारा चंद शर्मा, नाथ पुस्तक भण्डार, रोहतक
23. प्राकृत दोष विज्ञान वैद्य निरंजन देव, आयुर्वेदिक एवं तिब्बी अकादमी, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1974.
24. आयुर्वेदीय क्रिया शारीर वैद्य रणजीत राय देसाई, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, प्राइवेट लिमिटेड पटना पंचम संस्करण